रामधारीसिंह दिनकर

आधुनिक बोध

(आधुनिकता पर संकलित निबन्ध)

एकमात्र वितरक :
हिन्दी बुक सेन्टर
४/५ बी, आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११०००१

प्रकाशक पंजाबी पुस्तक भंडार,
दरीबा कलां, दिल्ली-११०००६

प्रथम संस्करण : १९७३

मूल्य : आठ रुपये मात्र (८.००)

मुद्रक . मॉडर्न प्रिंटर्स, के-१६, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

भूमिका

आधुनिकता का रूप क्या हो, यह मेरे चिंतन का बहुत ही प्यारा विषय बन गया है। इस विषय पर सोचने वाला अकेला मैं ही नही हूं। भारत में अभी कई युवक और प्रौढ़ विचारक हैं जो इस समस्या पर विचार कर रहे हैं। इन विचारको मे से कई लोग ऐसे भी हैं, जो मानते है कि आधुनिकता और परम्परा के बीच जहां वैर मालूम पडे, वहां परम्परा को बिलकुल छोड देना चाहिए और आंख मूंद कर हमें आधुनिकता का वरण कर लेना चाहिए। लेकिन बहुसंख्यक विचारक इस मत के हैं कि हमें वह बात हमेशा याद रखनी है, जो राममोहन राय ने कही थी, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द और महात्मा गांधी ने कही थी। वह बात यह है कि भारत को आधुनिक भी बनना है और उसे अपनी परम्परा के श्रेष्ठ अंश को भी बचाकर रखना है। कहते हैं कि बडे चिन्तक बराबर माइनारिटी में रहते हैं। मैं नि:संकोच भाव से स्वीकार करता हू कि इस मामले मे मेरी सहानुभूति मेजौरिटी के साथ है।

इस संग्रह मे आधुनिकता के विषय पर मेरे बारह निबन्ध संकलित हैं। इस विषय पर लिखना मुझे चाहे बारह बार या बीस बार ही पडा हो, किन्तु भाषण मैंने एक सौ से कम नही दिये होंगे। अतएव यह स्वाभाविक था कि आधुनिकता के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्ष मेरे लेखो और भाषणों में बार-बार आ जायें। पुनरावृत्ति के इस दोष के लिए पाठक मुझे क्षमा करेंगे, हालांकि सामान्य पाठकों का इस पुनरावृत्ति से कुछ उपकार ही होगा। अर्थात् आधुनिकता के जो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं, उनसे उनका भरपूर परिचय हो जायेगा।

निबन्ध साहित्य की बड़ी ही प्रबल विधा है। किन्तु हिन्दी मे निबन्धों के पाठक बहुत कम हैं और उन निबन्धो के तो बिलकुल ही कम, जिनका सम्बन्ध परीक्षाओं से नही पड़ता है। अतएव हिन्दी के युवक, प्रौढ और बूढे, सभी प्रकार के पाठको से मेरी अपील है कि वे आधुनिकता की समस्या के महत्त्व को समझें और मेरे ही नही, सभी विचारकों के लिखे एतद्विषयक निबन्धों को अवश्य पढ़ें। जिस रूप मे हम आधुनिकता का वरण करेंगे, उसी से यह निश्चित होगा कि भारत मौलिक राष्ट्र बनकर खड़ा होगा अथवा वह परिचय की डुप्लिकेट कापी बन जायगा।

नई दिल्ली,
रक्षा-बन्धन
अगस्त, १९७३ ई०

रामधारीसिंह दिनकर

विषय-सूची

आधुनिकता और भारत-धर्म

आजकल मेरा ध्यान इस सवाल की ओर बार-बार जाता है कि आज से सौ-पचास वर्ष बाद भारत का रूप क्या होने वाला है। क्या वह ऐसा भारत होगा, जिसे कबीर, कबीर, अकबर, तुलसीदास, विवेकानन्द और गांधी पहचान सकेंगे अथवा बदलकर वह पूरा का पूरा अमरीका और यूरोप बन जायेगा? पिछले सौ-डेढ़-सौ वर्षों से भारत आधुनिकता की ओर बढ़ता आ रहा है, लेकिन समझा यह जाता है कि भारत अब भी आधुनिक देश नहीं है, वह मध्यकालीनता से आच्छन्न है। स्वतंत्रता के बाद से आधुनिकता का प्रश्न अत्यन्त प्रखर हो उठा है, क्योंकि चिंतक यह मानते हैं कि हमने अगर आधुनिकता का वरण शीघ्रता के साथ नहीं किया, तो हमारा भविष्य अंधकारपूर्ण हो जायेगा। अतएव, यह प्रश्न विचारणीय है कि आधुनिक बनने पर भारत का कौन-सा रूप बचने वाला है और कौन बलिदान में जायेगा।

नैतिकता, सौंदर्य-बोध और अध्यात्म के समान आधुनिकता कोई शाश्वत मूल्य नहीं है। सच पूछिये तो वह मूल्य है ही नहीं, वह केवल समय-सापेक्ष धर्म है। नवीन युग, समय-समय पर, आते ही रहते हैं और जैसे आज के नये जमाने पर आज के लोगों को नाज़ है, उसी तरह हर जमाने के लोग अपने जमाने पर नाज़ करते हैं। संसार का कोई भी समाज किसी भी समय इतना स्वाभाविक नहीं रहा है कि वह हर आदमी को पसन्द हो। और कोई समाज ऐसा भी नहीं बना है, जिसके बाद का काल उसका आलोचक नहीं हुआ हो।

वैदिक युग भारत का प्रायः सबसे अधिक स्वाभाविक काल था। यही कारण है कि आज तक भारत का मन उस काल की ओर बार-बार लोभ से देखता है। वैदिक आर्य अपने युग को स्वर्णकाल कहते थे या नहीं, यह हम नहीं जानते, किन्तु उनका समय हमें स्वर्णकाल के समान अवश्य दिखायी देता है। लेकिन जब बौद्ध युग का आरम्भ हुआ, वैदिक समाज की पोल खुलने लगी और चिंतकों के बीच

उसकी आलोचना आरंभ हो गयी। बौद्ध युग अनेक दृष्टियो से आज के आधुनिकता-आन्दोलन के समान था। ब्राह्मणो की श्रेष्ठता के विरुद्ध बुद्ध ने विद्रोह का प्रचार किया था, जाति-प्रथा के बुद्ध विरोधी थे और मनुष्य को वे जन्मना नही, कर्मणा श्रेष्ठ या अधम समझते थे। नारियो को भिक्षुणी होने का अधिकार देकर उन्होंने यह बताया था कि मोक्ष केवल पुरुषो के ही निमित्त नही है, उसकी अधिकारिणी नारिया भी हो सकती हैं। बुद्ध की ये सारी बातें भारत को याद रही हैं और बुद्ध के समय से बराबर इस देश मे ऐसे लोग उत्पन्न होते रहे हैं, जो जाति-प्रथा के विरोधी थे, जो मनुष्य को जन्मना नही, कर्मणा श्रेष्ठ या अधम समझते थे। आज की आधुनिकता के प्रसग मे देखें, तो बुद्ध के युद्ध-विरोधी विचार भी आधुनिक थे। किन्तु, बुद्ध मे आधुनिकता से बेमेल बात यह थी कि वे निवृत्तिवादी थे, गृहस्थी के कर्म से वे भिक्षु-धर्म को श्रेष्ठ समझते थे। उनकी प्रेरणा से देश के हजारो-लाखो युवक, जो हट्टे-कट्टे थे, हल जोतने और गाडी हाकने के योग्य थे, उत्पादन बढा कर समाज का भरण-पोषण करने के लायक थे, सन्यासी हो गये और उनकी युवा पत्निया जीवित वैधव्य की वेदना से कराहने लगी।

सन्यास की संस्था समाज-विरोधिनी सस्था है। हँसी-हँसी मे एक बार स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा था कि सन्यास का एक बडा दोष यह है कि वह अच्छे लोगो को समाज से अलग कर देता है। किन्तु, विवेकानन्द फिर भी अधिक आधुनिक निकले, क्योकि अपने सन्यासियो को उन्होंने समाजसेवी बना दिया। विवेकानन्द के सन्यासी एक दरवाजे से ससार से निकल जाते हैं, किन्तु दूसरे दरवाजे से वे ससार मे ही वापस आ जाते हैं। अपनी गृहस्थी छोडकर वे सबकी गृहस्थी मे सहायता करते हैं। किन्तु, बुद्ध की दृष्टि ऐहिक थी ही नही। वे मनुष्यो को यह उपदेश देते थे कि जीवन जलता हुआ मकान है और बुद्धिमानी की बात यह है कि हम इस आग से निकल भागे। जीवन दु खपूर्ण है और सारे दु खो की जड मनुष्य का जन्म है। अतएव, हमे वह रास्ता पकडना चाहिए, जिससे जन्म लेना ही असभव हो जाय।

सृष्टि के विषय मे बुद्ध को दृष्टि क्या थी, इसका स्पष्टीकरण बुद्ध ने कभी नही किया। इस पर बुद्ध को कई लोग नास्तिक अथवा सदेहवादी मानते है। गरचे अधिक सच्चा मत यह मालूम होता है कि बुद्ध एगनास्टिक थे, क्योकि उनका विचार था कि जो तत्त्व भौतिकोत्तर और इन्द्रियो की पहुँच के पार हैं, उन्हे बुद्धि नही जान सकती है। और उनकी यही नास्तिकता और सदेहवादिता उन्हे आधुनिक युग के लिए आकर्षक बना देती है। नास्तिक तो चार्वाक और बृहस्पति भी थे, किन्तु चार्वाक और बृहस्पति भारतीय विचार-धारा अथवा उसके दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व नही करते। किन्तु, बुद्ध भारतीय विचारधारा के बहुत बड़े प्रतिनिधि है। उनका भारतीय चिंतन पर प्रभाव है और भारतीय सस्कृति के प्रतिनिधि होने

के कारण ही वे विष्णु के नवम अवतार माने जाते हैं।

गौतम बुद्ध प्रचण्ड बुद्धिवादी थे। वे जनता की श्रद्धा का शोषण करके उस पर अपना मत लादना नहीं चाहते थे। अपने शिष्यों से भी उन्होंने कहा था, "आत्मदीपो भव"। तुम अपना दीपक आप बनो। तुम मेरी कोई भी बात इसलिए मत मानो कि वह मेरी कही हुई है। तुम्हें उन्हीं बातों में विश्वास करना चाहिए, जो तुम्हारी खुद की समझ में आती हों। जिन प्रश्नों का समाधान बुद्धि से नहीं हो सकता और जिनके उत्तर पाने या न पाने से आदमी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, वैसे सभी प्रश्नों को तथागत ने 'अव्याकृत' कोटि में डाल दिया था और उनके पूछे जाने की मनाही कर दी थी। दीर्घनिकाय के पोट्ठपाद-सुत्त में बुद्ध कहते हैं—"पोट्ठपाद ! लोक नित्य है और दूसरा मत यह कि लोक निरर्थक है, इसे मैंने अव्याकृत (कथन का अविषय) कहा है।"

पोट्ठपाद के यह पूछने पर कि किसलिए भन्ते ! भगवान ने इसे अव्याकृत कहा है, तथागत ने बतलाया कि "इसलिए कि ये प्रश्न न तो अर्थयुक्त हैं, न धर्मयुक्त, न आदि ब्रह्मचर्य के उपयुक्त, न निर्वेद (वैराग्य) के लिए, न निरोध के लिए, न उपशम के लिए।" अर्थात् इन प्रश्नों के विवेचन में पड़ने से मनुष्य को कुछ भी प्राप्त होने वाला नहीं है।

किन्तु, बुद्ध का अव्याकृत चारों ओर से निश्छिद्र नहीं है, क्योंकि परलोक को वे मानते थे, देवताओं की योनि में उनका विश्वास था, और यद्यपि आत्मा को वे नाशवान समझते थे, किन्तु आवागमन के सिद्धान्त में उनका अटल विश्वास था और वे मानते थे कि जो आत्मा शरीर के साथ नष्ट होती है, उसी का पुनर्जन्म भी होता है। अतएव जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद में उनका पूरा विश्वास था और इस मामले में उनका दर्शन वही था, जो वैदिक धर्म वालों का रहा है।

बुद्ध के पहले भारत में संस्कृति की एक ही धारा बहती थी, जिसे हम वैदिक के नाम से जानते हैं। किन्तु, बुद्ध के आविर्भाव के बाद से इस देश में संस्कृति की दो धाराएँ बहने लगी हैं। पहली धारा संस्कृति की वह मातृ-धारा है, जो वर्णाश्रम-धर्म का समर्थन करती है, जाति-प्रथा को कायम रखना चाहती है, शूद्रों को ऊपर उठने देना नहीं चाहती, छुआछूत में विश्वास करती है और अन्य धर्मों और संस्कृतियों के प्रभाव से बचकर जीना चाहती है। दूसरी धारा वह है, जो बुद्ध के कमंडलु से निकली है। यह धारा वृहत् मानवता की धारा है। अब तो इस धारा का भी ईश्वर में विश्वास है और वह जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद को उसी दृढ़ता के साथ मानती है, जिस दृढ़ता के साथ वैदिक धर्म उसमें विश्वास करता है। किन्तु, यह धारा वर्णाश्रम-धर्म के विरुद्ध है, जात-पाँत को वह नहीं मानती, छुआछूत को वह अधर्म समझती है, शूद्रों और दलितों के लिए उसके भीतर खास पक्षपात है तथा अन्य धर्मों और संस्कृतियों से वह द्वेष नहीं, प्रेम करती है, कम से कम उनके

प्रति वह पूर्ण रूप से सहनशील है।

कोई आश्चर्य नही कि भारत का निर्यात-धर्म बौद्ध-धर्म निकला। कोई आश्चर्य नही कि आज के युग मे भारत का सार्वभौम सत्कार बुद्ध के कारण अधिक, किसी अन्य धर्म-नेता के कारण कम है और कोई आश्चर्य नही कि इस देश मे धर्म के जो शक्तिशाली ठेकेदार थे, उन्होने बौद्ध मत को खदेडकर देश से बाहर निकाल दिया। किन्तु, बौद्ध मत केवल शरीर से ही हारा है। मन तो उसका सम्पूर्ण हिन्दुत्व के भीतर आज भी जीवित और सचेत है। ज्यों-ज्यो समय बीतता जाता है, हम मनु के पक्ष मे कम, बुद्ध के पक्ष मे अधिक होते जाते हैं; तुलसी की ओर कम, कबीर की ओर अधिक झुकते जाते हैं। लगता हैं, बुद्ध ने जिन बातो के खिलाफ विद्रोह किया था, हमे भी उनके विरुद्ध आवाज उठानी चाहिए, क्योकि वैदिक धर्म की जो बातें बुद्ध को नापसन्द थी, वे धर्म के तत्त्व नही, उसके ऊपर जमी हुई रूढियो की पपड़ियाँ हैं और उन्हे तोडकर झाडे बिना भारत-धर्म नवीन नही होगा, जिसका अर्थ यह है कि वह अपने असली स्वरूप पर नही पहुँचेगा।

किन्तु आधुनिकता के प्रसग मे, स्वभावत ही, यह प्रश्न उठता है कि तब असली भारत कौन है। वह, जिसके शास्त्रकार मनु और वशिष्ठ, दार्शनिक शंकर, रामानुज और वल्लभाचार्य तथा कवि वाल्मीकि, कबन और तुलसीदास हैं? अथवा वह, जिसके शास्त्रकार स्वय बुद्ध, दार्शनिक नागार्जुन और वसुबंधु तथा कवि तिरुवल्लुवर, वेमन्ना और कबीर हैं?

प्रश्न बडा ही बीहड है, लेकिन खैरियत यह है कि इतिहास ने उसे सुलझाकर हमारे लिए आसान कर दिया है। हिन्दू-धर्म अब वही नही है, जो कबन और तुलसी अथवा वेमन्ना और कबीर के समय था। यूरोपीय सपर्क का एक बहुत बडा शुभ परिणाम हम यह मानते हैं कि उसने हिन्दुत्व को हिलकोर कर उसके भीतर एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी और उस क्रान्ति ने मनु और बुद्ध वाली दोनो धाराओं को मिलाकर एक कर दिया है। हिन्दुत्व अब वही नही है, जो मनु की स्मृति तथा विद्यापति के निबधो मे लिखा मिलता है। उसका शाश्वत, चिर नवीन और जाग्रत रूप अब वह है, जिसका आख्यान परमहस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द ने किया है, श्री अरविन्द और महर्षि रमण ने किया है, गाधी और स्वामी दयानन्द ने किया है। यह ठीक है कि विवेकानन्द और गाधी के बताये हुए मार्ग पर सारी जनता अभी नही चल रही है, किन्तु यह भी ठीक है कि समाज के अग्रणी लोग, जिनका आचरण देखकर समाज अपना आचरण बदलता है, पुराने हिन्दुत्व को छोडकर अभिनव हिन्दुत्व पर आ गये हैं और जहां समाज के अग्रणी लोग आज पहुचे हैं, वहां सारा समाज कल पहुचकर रहेगा।

किन्तु क्या अपने सामाजिक आधार बदल देने से हिन्दू पूर्ण रूप से आधुनिक हो जायेंगे? भारत के पूर्ण रूप से आधुनिक होने मे बाधाएं कौन-कौन-सी हैं?

आधुनिकता क्या है और भारत-धर्म के किन मूल तत्त्वों से उसका विरोध पड़ता है ? क्या पूर्ण रूप से आधुनिक बनने के प्रयास में हम भारत-धर्म के इन मूल-तत्त्वों का भी बलिदान करेंगे ? अगर हां, तो राममोहन राय, विवेकानन्द और गांधी के इस स्वप्न का क्या बनने वाला है कि हमें भारतीय परम्परा के शिव-अंश को कायम रखना है, हमें अपनी परम्परा के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों को पाश्चात्य सभ्यता के उन तत्त्वों से एकाकार करना है, जो उस सभ्यता के सर्वश्रेष्ठ अंश हैं ? और कहीं हमने अपनी परम्परा का पक्षपात करने के प्रयास में आधुनिकता का पूर्ण रूप से वरण नहीं किया, तो इससे हमारा और संसार का कोई अकल्याण तो नहीं होने वाला है ?

संसार में जब भी कोई नया युग आरम्भ होता है, वह युद्ध के कारण आरम्भ नहीं होता, पराजय या विजय के कारण आरम्भ नहीं होता, क्रान्ति के कारण आरम्भ नहीं होता, न देश का नक्शा बदलने से आरम्भ होता है। नया युग बराबर नये प्रकार के लोगों के जन्म के साथ उदित होता है। वैसे जिसे हम आधुनिकता कहते हैं, वह कई बातों का एक सम्मिलित नाम है। औद्योगीकरण आधुनिकता की पहचान है। साक्षरता का सर्वव्यापी प्रसार आधुनिकता की सूचना देता है। नगर-सभ्यता का प्राधान्य आधुनिकता का गुण है। सीधी-सादी अर्थ-व्यवस्था मध्य-कालीनता का लक्षण है। आधुनिक देश वह देश है, जिसकी अर्थ-व्यवस्था जटिल और स्वभावतः ही, प्रसरणशील हो, जो 'टेक-आफ' की स्थिति को पार कर चुकी हो। बन्द समाज वह है, जो अन्य समाजों से प्रभाव ग्रहण नहीं करता, जो अपने सदस्यों को भी धन या संस्कृति की दीर्घा में ऊपर उठने की खुली छूट नहीं देता, जो जाति-प्रथा और गोत्रवाद से पीड़ित है, जो अन्धविश्वासी, गतानुगतिक और संकीर्ण है। बन्द समाज मध्यकालीनता का समाज होता है। आधुनिक समाज में उन्मुक्तता होती है, उस समाज के लोग अन्य समाजों से मिलने-जुलने में नहीं घबराते, न वे उन्नति का मार्ग खास गोत्रों के लिए ही सीमित रखते हैं। आधुनिक समाज का एक लक्षण यह भी है कि उसकी हर आदमी के पीछे होने वाली आय अधिक होती है, हर आदमी के पास कोई धंधा या काम होता है और अवकाश की शिकायत प्रायः हर एक को रहती है।

लेकिन ये आधुनिकता के बाहरी लक्षण हैं। यूरोप और अमरीका का समाज, सच्चे अर्थों में, आधुनिक समाज है और ऊपर के लक्षण मैंने यूरोपीय समाज को ही देखकर दिये हैं। उद्योग और रोजगार, साक्षरता और ऊंची आय, यद्यपि इस समाज के प्रमुख लक्षण हैं, मगर यूरोपीय समाज के वे मौलिक गुण नहीं हैं। यूरोप और अमरीका में जो आधुनिकता फैली है, उसका असली कारण वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्राथमिकता और प्राबल्य है। यह दृष्टि उद्योग और टेक्नालॉजी से नहीं उत्पन्न हुई है, बल्कि टेक्नालॉजी और उद्योग ही इस दृष्टि के परिणाम हैं। यूरोप और अमरीका का सबसे बड़ा लक्षण वैज्ञानिक दृष्टि है, निष्ठुर होकर सत्य

को खोजने की व्याकुलता है और इस खोज के क्रम में श्रद्धा, विश्वास, परम्परा और धर्म, किसी भी बाधा को बुद्धि स्वीकार करने को तैयार नहीं है। आधुनिक मनुष्य के बारे में सामान्य कल्पना यह है कि अपने चिंतन में वह निर्मम होता है, निष्ठुर और निर्भीक होता है। जो बात बुद्धि की पकड़ में नहीं आ सकती, उसे वह त्रिकाल में भी स्वीकार नहीं करेगा और जो बातें बुद्धि से सही दिखायी देती हैं, उनकी वह खुली घोषणा करेगा, चाहे वे धर्म के विरुद्ध पड़ती हों, नैतिकता के खिलाफ जाती हों अथवा उनसे मानवता का चिरपोषित विश्वास खंड-खंड हो जाता हो।

इसीलिए लोग अकसर आधुनिकता को नास्तिकता का पर्याय समझ लेते हैं और यह सोचने लगते हैं कि आधुनिकता का एक लक्षण यह भी है कि वह नैतिक नियमों की अवहेलना करती है। यही नहीं, जिन्होंने आधुनिकता की रूह को पहचानने की कोशिश नहीं की है, वे 'जाज' संगीत और 'ट्विस्ट' नृत्य तथा माता-पिता के साथ लड़कों के दुर्व्यवहार को भी आधुनिकता का ही लक्षण मान लेते हैं। *किन्तु ये चीजें आधुनिकता नहीं, उच्छृंखलता की निशानी है और ये* आधुनिक हों भी, तो मैं तो उन्हें आधुनिकता की प्रकृति नहीं, विकृति ही कहूँगा।

ये कुरीतियाँ आधुनिकता की शोभा नहीं बढ़ाती, पुराने देशों में उसे अग्राह्य बना देती हैं। *उन्नीसवीं सदी में आधुनिकता की लहर भारतवर्ष में बड़े जोर से* उठी थी और जहाँ तक उसके मूलतत्त्व यानी बुद्धिवाद का सम्बन्ध है, हमारे महापुरुषों ने उसे स्वीकार भी किया था। किन्तु दो कारणों से आधुनिकता भारत में बदनाम हो गयी। एक कारण तो यह था कि जितने लोगों ने आधुनिकता की रीढ़ यानी वैज्ञानिक दृष्टि और बुद्धिवाद को पकड़ा तथा स्वस्थ, स्वाधीन चिंतन के लिए उसकी महिमा को स्वीकार किया, उनसे कई गुना अधिक लोग स्वाधीन चिंतक होने का स्वांग भरने लगे। ऐसे युवक उस समय अपने को 'यंग बंगाल' कहते थे और अपनी आधुनिकता की अभिव्यक्ति वे शराब पीकर, अपने धर्म की निन्दा करके, बल्कि मंदिरों में गोमांस फेंककर करते थे। इनमें से बहुत-से लोग ईसाई भी हो गये थे और कई मामलों में देखा गया था कि उनके धर्म-परिवर्तन की प्रेरणा आध्यात्मिक जिज्ञासा नहीं, कोई इहलौकिक लोभ अथवा प्रेम था। आधुनिकता की बदनामी का दूसरा कारण यह हुआ कि उसके प्रतीक हमारे अंग्रेज शासक थे, जिनसे हमें मोहब्बत नहीं, घृणा थी।

आधुनिकता के विरुद्ध भारतीय समाज ने जो कठोर प्रतिक्रिया अभिव्यक्त की थी, उसका प्रमाण हम उन्नीसवीं सदी में देख चुके हैं। आधुनिकता के छिछलेपन को देखकर भारत इतना नाराज हुआ कि यूरोप को स्वीकार करने के बदले उसने एक दूसरी ही राह पकड़ ली। हिन्दू कहने लगे कि हमारी संस्कृति बहुत पुरानी है, हमारा साहित्य सर्वश्रेष्ठ है और धर्म के बारे में हम जितना जानते हैं,

उससे अधिक जानकारी का दावा यूरोप के लोग नहीं कर सकते, अतएव, वे हमसे चाहे तो धर्म सीख लें, हम उनकी विचार-पद्धति को कबूल नही करेंगे। और मुसलमान कहने लगे कि जो शिक्षाएँ हमें यूरोप के लोग देने आये हैं, वे हमारे धर्म-ग्रन्थों मे पहले से ही मौजूद हैं। नयी दुनिया से हमे कुछ भी नही लेना है।

लेकिन भारत उस समय भ्रम में था। नयी दुनिया की हमने बहुत सारी बातें स्वीकार कर ली हैं और बहुत-सी बातो को स्वीकार करने की हमारी तैयारी जारी है। औद्योगीकरण यूरोप और अमरीका की देन है। भारत मे नगरो की जो सख्या और प्रधानता बढने लगी है, वह आधुनिकता का परिणाम है। कॉलेजों और यूनिवर्सिटियो का आज का रूप बाहर से आया है। साक्षरता का विकास आधुनिकता के धक्के से हो रहा है। हमारे प्रजातंत्र की पद्धति यूरोप और अमरीका से ली गयी है। व्यक्तिवाद की प्रेरणा इस देश मे यूरोप और अमरीका की देखा-देखी बढ रही है और सम्मिलित परिवार की परिपाटी पर जो खतरे मँडरा रहे हैं, वे भी आधुनिकता की ही देन हैं। नारियो की मर्यादा-वृद्धि आधुनिकता के कारण हो रही है और यदि आधुनिकता की प्रेरणा हमारे भीतर काम नही करती होती, तो हम हिन्दू कोड को कानून का रूप नही दे सकते थे।

कुछ बातों मे आधुनिकता ने हमारी सहायता परोक्ष रूप से भी की है। जिन प्रवृत्तियो को आज हम आधुनिक कहते हैं, वे बुद्ध मे दिखायी पड़ी थी, भक्त और सन्त कवियो मे दिखायी पड़ी थी। उन्हे आधुनिकता ने कुछ तेज कर दिया और हम अस्पृश्यता को कानूनी अपराध घोषित करने में सफल हुए। इसी प्रकार हमारे सविधान में जो यह शर्त रखी गयी है कि नर-नारी के बीच कोई असमानता नही बरती जायगी तथा उन्नति के अवसर सभी जातियों के लोगों को, भेद-भाव के बिना, उपलब्ध रहेंगे, वह शर्त वैसे देखिये तो, मनुस्मृति के खिलाफ पड़ती है। लेकिन, उस शर्त को जनता ने इसलिए कबूल कर लिया कि पिछले सौ-डेढ़-सौ वर्षों के भीतर उसके कट्टरता के बहुत-से भाव बदल गये हैं या ढीले पड़ गये हैं और उसका मन धीरे-धीरे नवीन हो रहा है।

जहाँ तक आधुनिकता के स्थूल पक्ष का सवाल है, मुझे इसमे कोई सदेह नही कि भारत उसे स्वीकार करने को उद्यत हो गया है। कल-कारखाने इस देश में भी बेशुमार बढने वाले हैं और नगर भी दिनों-दिन अधिक बड़े और सख्या मे विशाल होते जायेंगे। और इनका जो स्वाभाविक परिणाम लोगो के आपसी सम्बन्धो पर, उनकी आदतों और रिवाजों पर, उनकी नैतिक भावना पर यूरोप और अमरीका में पड़ा है, वह यहाँ भी पड़ेगा। साक्षरता भी एक दिन काफी हो जायगी और उन लोगों की संख्या मे भी वृद्धि होगी, जो गम्भीर पुस्तकें न पढ़कर अखबार, सनसनी-खेज उपन्यास और पैंफलेट ज्यादा पढेंगे अथवा रेडियो और टेलीविजन से अपना मन बहलायेंगे। प्रत्येक नरमुड के पीछे होने वाली आय यहाँ भी बढ़ेगी और यह देश

भी शायद एक दिन बेरोजगारी का मसला हल कर लेगा।

किन्तु, ये तो स्थूल बातें हैं। आधुनिकता की असली व्याप्तियाँ इनसे ज्यादा बारीक हैं। आधुनिकता और आधुनिकीकरण—मॉडर्निटी और मॉडर्नाइजेशन—में भेद है और यह भेद लगभग वैसा ही है, जैसा भेद हम संस्कृति और सभ्यता में मानते हैं। मोटर, महल, हवाई जहाज और कल-कारखाने, ये सभ्यता के उपकरण हैं। संस्कृति इनसे कहीं बारीक चीज़ का नाम है। सभ्यता वह चीज है, जो हमारे पास है। संस्कृति वह चीज है, जो हम खुद हैं। मॉडर्नाइजेशन सभ्यता है, मॉडर्निटी संस्कृति है। जहाँ तक मॉडर्नाइजेशन का प्रश्न है, भारत को आधुनिक बनना ही पड़ेगा और इस क्षेत्र में भारत के आधुनिक होने से भारतीयता नष्ट हो हो जायगी, ऐसा मेरा विचार नहीं है। गरचे धोती, कुरता, अचकन और चादर को हम भारतीयता से सबद्ध मानते आये हैं, किन्तु भारत की जो आत्मा है, भारत का जो असली धर्म है, वह पोशाकों में नहीं बसता, उसका निवास भारतीयों के मन में है, चिन्तन की पद्धति में है, सृष्टि को देखनेवाली दृष्टि में है। अगर जीवन और सृष्टि को देखनेवाली भारतीय दृष्टि बच गयी अथवा आधुनिकता से उसका ताल-मेल बैठ गया, तो वह स्वप्न पूरा हो जायेगा, जिसे राममोहनराय ने देखा था, विवेकानंद, गाँधी और अरविंद ने देखा था। अर्थात् हम पाश्चात्य जगत के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों को अपनी संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों से एकाकार करने में समर्थ हो जायेंगे।

किन्तु, संसार को देखनेवाली भारत की वह कौन-सी दृष्टि है, जो उसकी विशेषता है और जिसका आधुनिकता से विरोध पड़ता है ? इस प्रश्न का उत्तर बहुत लम्बा हो सकता है, क्योंकि संसार के सभी आधुनिक चिंतक अथवा वैज्ञानिक नास्तिक नहीं हैं, न उनमें से सब-के-सब धर्म के विरुद्ध हैं। धर्म के आनुष्ठानिक रूप सर्वत्र निन्दित हो चुके हैं और आज के जो महान चिन्तक धार्मिक हैं, वे मंदिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों में चलनेवाली रीतियों के प्रति उदासीन हैं। धार्मिक वे इस अर्थ में हैं कि उनके भीतर वे प्रश्न जीवित हैं, जो प्रश्न धर्म-संस्थापकों के भीतर उठा करते हैं। आदमी क्या चीज है ? जन्म के पहले वह कहाँ रहता है ? मृत्यु के उपरान्त वह कहाँ चला जाता है ? यह संसार किसी योजना के अधीन है अथवा वह अकस्मात् उछलकर हमारे सामने आ गया है ? ईश्वर हो सकता है या नहीं ? अगर वह है, तो उसका सबूत क्या है ? अगर वह नहीं है, तो इसका क्या प्रमाण है ?

एक-एक कर वे ही सवाल, जिन्हें बुद्ध ने अव्याकृत कोटि में डाल दिया था। किन्तु, वे अव्याकृत रहे नहीं। आज भी चिन्तकों के मन में वे ही सवाल उठते हैं। किन्तु, श्रद्धा पहले पुरजोर थी और बुद्धि अपने को सबुद्धि (इनट्यूशन) से हीन समझती थी। इसलिए पहले के चिंतकों को उत्तर कुछ-न-कुछ मिल जाता था और उस उत्तर से वे आनन्द और सन्तोष भी पाते थे। किन्तु अब श्रद्धा लगभग

अनादृत और बुद्धि मनुष्य का सर्वस्व है। किन्तु बुद्धि की पहुँच एक सीमा तक ही है, उससे आगे वह नहीं जा सकती। बुद्धिवाद, असल में इन्द्रियवाद है। जो सूँघा जा सकता है, छुआ जा सकता है, सुना और देखा जा सकता है, बुद्धि उसी का विश्वास करती है। किन्तु, आदमी के भीतर ऐसी गहराइयाँ भी हैं, जहाँ इन्द्रियों की पहुँच नहीं है और मन भी जहाँ किसी बड़े मन की सहायता के बिना नहीं जा सकता। भाषा जितनी भी है, मन ने अपने उपयोग के लिए बनायी है। बड़े मन की भाषा कहीं है नहीं, जिसके आधार पर तर्क किसी निर्णय पर पहुँच सके। अतएव बुद्धि ने यह आग्रह पकड़ लिया है कि सत्य वही है, जिसे मैं समझ सकती हूँ। जो मेरी समझ में नहीं आता, वह या तो कुछ नहीं है अथवा असत्य है।

बुद्धिवाद भारत में भी था, लेकिन यूरोप में वह स्थूल हो गया। पश्चिम के चिकित्सा-शास्त्र ने सर्जरी में जितनी उन्नति की है, उतनी उन्नति वह काय-चिकित्सा में नहीं कर सका है। कारण यह है कि यूरोप शरीर का विशेषज्ञ है। शरीर के भीतर जो मन अथवा आत्मा बसती है, उसे भी वह उन्हीं औजारों से नापना चाहता है, जिनसे शरीर के नापने का रिवाज है। इसीलिए मन और आत्मा के धरातल पर सफलता उसे कम मिली है। इसीलिए, यूरोप और अमरीका में सर्जरी के मुकाबले काय-चिकित्सा का विकास कुछ कम हुआ है। हैजा, कालाजार, टायफायड, चेचक, मलेरिया और राजयक्ष्मा, ये बीमारियाँ उन्मूलित या पराजित हो गयी, लेकिन अब उन्माद अधिक लोगों को होने लगा है तथा रक्तचाप, मधुमेह, हार्ट और उन्निद्रा की बीमारियाँ बड़े जोर से बढ़ रही हैं। विज्ञान को किसी विद्या की खोज करनी चाहिए, जो मन और आत्मा से जन्म लेने वाली बीमारियों की रोक-थाम करे। क्योंकि आदमी केवल शरीर नहीं है, वह मन भी है, आत्मा भी है और बीमारियाँ सभी जगहों पर उत्पन्न होती हैं।

जिस बात का प्रमाण मैंने सर्जरी और काय-चिकित्सा की चर्चा चलाकर दिया है, उसी का प्रमाण मैं एक और संकेत करके देना चाहता हूँ। जब से आणविक विस्फोट सम्भव बना है, वैज्ञानिक यह देखकर चकित और विषण्ण हैं कि जो नियम न्यूटनीय विज्ञान के आधार थे, वे अब इलेक्ट्रोनों पर लागू नहीं होते हैं। एटम से ऊपर के धरातल तक न्यूटनीय विज्ञान अब भी सही है, किन्तु एटम के भीतरवाली दुनिया न्यूटन के नियमों की अवहेलना कर रही है। न्यूटनीय विज्ञान में हर कार्य किसी कारण के अनुसार चलता है। आणविक विज्ञान यह समझ ही नहीं पा रहा है कि इलेक्ट्रोन कारण-कार्य-नियम की परवाह क्यों नहीं करते हैं। न्यूटनीय विज्ञान की कल्पना थी कि एटम भी कोई ठोस चीज है। किन्तु जब एटम तोड़ा गया, तब पता यह चला कि वह इलेक्ट्रोन और प्रोटोन का मिलान है और इलेक्ट्रोन ठोस तत्त्व नहीं, केवल ऊर्जा या तरंग है। यानी हम जिसे ठोस जगत् समझते थे, वह ठोस नहीं है, वह गैस है, तरंग है, ऊर्जा है। यह बात मुझे शंकर के मायावाद के

समान लगती है। असल में, यहाँ कुछ भी ठोस नहीं है। हम पोलेपन के भीतर किसी ठोस चीज का सपना देख रहे हैं। वास्तव में हमारा पाँव जिस चीज पर पडा है, वह रज्जु है। अपने मानसिक भ्रम के कारण हम उसे सर्प समझ रहे है।

बुद्धि मन की गहराइयो तक नही जा सकती। वह स्वभाव से ही स्थूल है। विज्ञान का विकास, आदि से अन्त तक, बुद्धिवाद के मार्गदर्शन मे हुआ है। इसीलिए वह एटम से ऊपर तक जिस आत्म-विश्वास के साथ बोलता था, उस आत्म-विश्वास के साथ एटम से नीचे पहुँचने पर नही बोल सकता। इसीलिए सर्जरी आगे और काय-चिकित्सा पीछे चल रही है। इसीलिए विज्ञान निर्जीव जगत् मे जितना सत्य साबित हुआ है, उतनी सफलता उसे सजीव जगत् मे नही मिली है। इसीलिए वह आदमी के शरीर का जितना अच्छा ज्ञाता है, उतना ज्ञान उसे मनुष्य के मन का नही है, उसकी चेतना का नही है। और इसीलिए वह आत्मा के विषय मे कोई भी बात कभी भी नही जान सकेगा।

जब विज्ञान नही था, बुद्धिवाद तब भी था, लेकिन उस समय उसकी प्रबलता नही थी। उस समय चिंतनो का मार्ग श्रद्धा का मार्ग था, धर्म का मार्ग था, रहस्य-वाद का मार्ग था। लेकिन श्रद्धा, धर्म और रहस्यवाद भी पूर्वाग्रही थे। उनके पूर्वाग्रह का रूप यह था कि चिंतन की जो धारा धर्म के विरुद्ध चलती दिखायी देती थी, उसे वे आगे बढने नही देते थे। इसीलिए रहस्यवादियो ने आत्मा के बारे मे जितनी जानकारी प्राप्त की, उतनी जानकारी उन्हे शरीर के बारे मे नही मिल सकी।

मेरा खयाल है, बुद्धिवाद भी पूर्वाग्रह से मुक्त नही है। चिंतन की जो धारा अगम और अज्ञात की ओर चलने लगती है, उसे बुद्धिवाद प्रोत्साहन नही देता। इसीलिए वह शरीर का ज्ञान तो पूरा प्राप्त कर लेता है, किन्तु, आत्मा की बातें तथा अगम और अज्ञात के रहस्य उसकी समझ मे नही आते। किन्तु, भौतिकी के भीतर अब जो नवीनतम चिंतनधारा चलने लगी है, उससे यह आभास मिलता है कि वास्तविकता का असली स्वरूप केवल बुद्धि से जाना नही जा सकता। बुद्धि-वाद मे वास्तविकता के वे ही अश प्रकाशित और सपुष्ट होते हैं, जो इन्द्रियानुभूति और तर्क के नियमों की अवहेलना नहीं करते। एक समय ऐसा भी आ सकता है, जब वास्तविकता इन्द्रियानुभूति और तर्क के नियमो से समझी नहीं जा सके और तब बुद्धिवाद भी पराजित हो जाय।

मनुष्य अनेक पूर्वाग्रहो को फाडकर आज की स्थिति तक पहुँचा है। बुद्धिवाद भी पूर्वाग्रह का ही एक रूप है। लेकिन बुद्धिवाद सबसे अच्छा पूर्वाग्रह है या सबसे खराब अथवा वह पूर्वाग्रह बिलकुल नहीं है, इसका प्रमाण आगे चलकर मिलेगा।

अदृश्य के प्रति आस्था और परलोक के अस्तित्व मे विश्वास, इसे मैं भारतीय सृष्टि-बोध की रीढ मानता हूँ। मूल मे यही विश्वास भारत का अटल, मौलिक

विश्वास रहा है और भारत मे धर्म और नैतिकता का विकास इसी विश्वास के अधीन हुआ है। यह ध्यान देने की बात है कि भारत केवल आस्तिक दर्शन का गढ नही है। सांख्य सेश्वर भी है और निरीश्वर भी। जैन और बौद्ध मत ईश्वर की सत्ता में विश्वास नही करते, न यही स्वीकार करते हैं कि सृष्टि की रचना किसी अदृश्य देवता ने की है। लेकिन इस एक बात मे भारत के आस्तिक और नास्तिक, दोनों ही प्रकार के दर्शन एक समान विश्वास करते हैं कि परलोक सत्य है, अदृश्य योनियो का अस्तित्व है और मरने के बाद जीव का जन्म भी होता है। जन्मान्तर-वाद का खडन यहाँ केवल चार्वाक ने किया था, किन्तु उसके अनुयायी इस देश मे थे या नही, यह रहस्य अज्ञात है।

और यह विश्वास केवल भारत का ही विश्वास नहीं है, वह समस्त प्राचीन ससार का विश्वास है, यद्यपि जन्मान्तरवाद में केवल हिन्दू और बौद्ध ही विश्वास करते हैं। इसलिए आधुनिकता के प्रसंग में भारत के समक्ष जो कठिनाई है, वह कठिनाई केवल भारत की ही नही, समस्त संसार की समझी जानी चाहिए। मुख्य प्रश्न यह नही है कि आधुनिकता की सम्पूर्ण विजय के बाद भारत भारत रहेगा या नहीं। मुख्य प्रश्न यही हो सकता है कि आधुनिकता के आक्रमण से प्राचीन जगत के इस विश्वास की रक्षा की जा सकती है या नही कि सब कुछ यही समाप्त नही हो जाता, कुछ चीजें मरने के बाद भी शेष रहती हैं; सब कुछ वही तक नही है, जहाँ तक विज्ञान का औजार पहुँचता है, कुछ चीजें ऐसी भी हैं, जो गोचर जगत के परे और इन्द्रियो की पहुँच के पार हैं।

भारत की विशेषता यह है कि वह समस्त ससार की लड़ाई अकेला लड रहा है। जब से विज्ञान की बढ़ती हुई, प्रायः सभी देशों मे अतीत और वर्तमान के बीच संघर्ष छिड गया और प्रायः सभी देशों में अतीत वर्तमान से हार गया। केवल भारत मे वह आज भी जोरों मे युद्ध कर रहा है। और ससार जो भारत की ओर एक अस्पष्ट आशा से देख रहा है, उसका भी कारण भारत की अतीतप्रियता ही है। नये ज्ञान के प्रति भारत हमेशा ही उदार रहा है। नये धर्मों, नयी सस्कृतियो और नयी विचारधाराओं को अपनाकर भारत भी परिवर्तित होता रहा है; लेकिन विचित्रता की बात यह है कि भारत जितना ही बदलता है, उतना ही वह अपने आत्मस्वरूप के अधिक समीप पहुँच जाता है। यही विलक्षणता भारत का अपना गुण है और इसी गुण के कारण भारत से लोग यह आशा लगाये बैठे हैं कि आधुनिकता को अपना लेने के बाद भी भारत भारत रहेगा और ससार के सामने एक नया नमूना पेश करेगा।

सृष्टि-बोध की आधुनिक कल्पना उस कल्पना से भिन्न है, जो प्राचीन भारत में रही थी अथवा जो सारे प्राचीन विश्व मे थी। आधुनिक कल्पना यह है कि सृष्टि अपने नियमों से आप चालित है और उन्ही नियमों के परिणामस्वरूप धरती

पर पेड़, पौधे, जीव और मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। मनुष्य जब से उत्पन्न हुआ है, वह प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने के लिए उससे संघर्ष कर रहा है। बाधाएँ तो उसके सामने बहुत आती हैं, मगर सफलता पाने से उसका आत्मविश्वास बढ़ता जाता है। आरम्भ में प्रकृति के रुद्र रूपों से घबराकर वह प्रार्थना करता था, अपनी रक्षा और कल्याण के लिए देवताओं की दया का आह्वान करता था। अब वह ऐसी प्रार्थनाओं में विश्वास नहीं करता। वह बीमार होने पर अपने को देवी-देवताओं के भरोसे नहीं छोड़ता, बल्कि दवाइयाँ खाता है और अपना इलाज करवाता है।

इसी प्रकार, उस पर जब मुसीबतें आती हैं, तब उनके लिए वह ईश्वर को दोष नहीं देता, बल्कि मुसीबतों से लड़ने की वह कोशिश करता है। बुद्धि को वह अपना सबसे बड़ा प्रकाश मानता है और वह जो भी काम करता है, बुद्धि के ही प्रकाश में करता है। इसमें अगर उससे कोई नैतिक पाप हो जाय, तो वह उसकी अपनी जिम्मेदारी है। पुण्य का काम वह इसलिए नहीं करता कि इसके बदले उसे स्वर्ग या मोक्ष मिलेगा, बल्कि इस भाव से कि वह उसका कर्तव्य है। और पाप से वह इसलिए नहीं बचता कि नरक का खौफ उसे सताता है, बल्कि इसलिए कि पाप सामाजिक दृष्टि से बुरी चीज है। साथ ही, पाप करने के बाद आदमी को पछताना भी पड़ता है। (पाप करके आदमी को क्यों पछताना पड़ता है, इसका कारण मनुष्य मनोविज्ञान में खोज रहा है, लेकिन बातें अभी ठीक से उसकी समझ में नहीं आयी हैं।) नैतिकता को आधुनिक मनुष्य स्वर्ग या नरक का सोपान नहीं समझता, बल्कि उसे अपने वैयक्तिक स्पन्दनों से सबद्ध मानता है, अपनी उत्तेजनाओं और प्रेरणाओं से उत्पन्न समझता है। वह किसी भी अदृश्य शक्ति में विश्वास नहीं करता—न ईश्वर में, न देवताओं में, न ज्योतिष अथवा भृगु या अरुण-संहिता के सिद्धांत में। वह नहीं मानता कि जो आदमी सुख में है, वह पूर्वजन्म में पुण्यात्मा रहा होगा, न वह यही मानता है कि जो निर्धन, रोगी और कंगाल हैं, वे पूर्वजन्म में पापी रहे होंगे। नया मनुष्य अपने भाग्य में नहीं, बाहुबल और बुद्धि में विश्वास करता है और वह यह मनसूबा रखता है कि वह अपनी योग्यता के अनुसार ऊँची से ऊँची जगहों तक जा सकता है। नया आदमी यह भी नहीं मानता कि राजगद्दी मनुष्य ईश्वर की कृपा से प्राप्त करता है। वह समझता है कि देश में डिक्टेटर पैदा हो जाय, तो उसका तख्ता वह उलट सकता है, समाज में शोषक बढ़ जायें, तो उनकी नींवें वह हिला सकता है, क्योंकि यहाँ जो कुछ भी है, मनुष्य के साहस, श्रम और बुद्धि के अधीन है और अदृश्य का हस्तक्षेप कहीं नहीं है।

नये मनुष्य की सृष्टि-सम्बन्धी जो कल्पना है, वह प्राचीन जगत की कल्पना से भले ही भिन्न हो, किन्तु जहाँ तक आदमी के कर्तव्य और सदाचार की बात है, प्राचीन जगत की कल्पना उसमें कोई खलल नहीं डालती। प्राचीन जगत की

कल्पना मनुष्य के कर्तव्य-भाव को कुंठित नहीं करती, उसके उल्लास को नही दबाती, न उसे यह सिखलाती है कि जो कुछ मिलने वाला है, वह तुम्हे ईश्वर से मिलेगा; अतएव तुम हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहो। जो लोग हाथ पर हाथ धरकर बैठे हुए हैं, उनसे पूछिये कि क्या वे ईश्वर के भरोसे बैठे हुए हैं। उत्तर मिलेगा, नही, सिर्फ इसलिए कि हमारे पास साधन नही हैं, उद्यम की शक्ति नहीं है। अब उद्यम और साधन का नही होना भाग्य के भरोसे बैठे रहने का परिणाम है अथवा किन्हीं अन्य कारणों का, इसका निर्णय आसानी से नही किया जा सकता। प्राचीन विश्व निरुद्यमी लोगो का विश्व नही था। अगर वह निरुद्यमियों और भाग्यवादियो का संसार हुआ होता, तो जिन लोगों ने उस समय बड़े-बड़े काम किये उनका आविर्भाव ही नही होता। भाग्य के विरुद्ध पुरुषार्थ की महिमा आदमी को कुछ आज ही ज्ञात नहीं हुई है। कर्ण के मुख से एक प्राचीन कवि ने कहलाया था :

'दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्।'

आधुनिकता के जो औद्योगिक और सामाजिक पक्ष हैं, प्रवृत्तिमूलक और पुरुषार्थ-बोधक पक्ष हैं, उन्हे हम स्वीकार करेंगे और सर्वत्र स्वीकार करेंगे। जहाँ तक बुद्धिवाद और वैज्ञानिक दृष्टि का प्रश्न है, हम उनकी भी उपयोगिता स्वीकार करते हैं। किन्तु, इन बातो को स्वीकार करते समय हमें इसका भी ध्यान रखना है कि हम जो नया विश्व बनायें, वह प्राचीन और मध्यकालीन विश्व से, सचमुच ही श्रेष्ठ हो—केवल सुख, सुविधा, स्वतन्त्रता और भोग की दृष्टि से ही श्रेष्ठ नही हो, बल्कि उसमे शांति और सन्तोष का भी प्राचुर्य हो।

मध्यकालीन जगत मे केवल दोष ही दोष नही थे। वह गहरे अन्धकार के साथ उज्ज्वल प्रकाश का भी समय था। यह ठीक है कि उस समय मनुष्य अपने परिवेश को कम जानता था, मगर, इसीलिए वह अपनी आलोचना भी थोड़ी ही करता था। जब दुनिया अँधेरी थी, आसमान साफ था। जब दुनिया रौशनी से भर गयी, आसमान पर अँधियाली छा गयी। पहले मनुष्य को सत्य वहाँ भी दिखायी देता था जहाँ सचमुच उसका वास नही था। अब जो सत्य है, उस पर भी आदमी का विश्वास टिकता दिखायी नही देता है। मध्यकालीन युग तिमिरग्रस्तता का शिकार नही था, वह आनन्द और सन्तोष से प्रकाशित काल था, जब आदमी चीजो मे विश्वास करता था और खुशी की रौशनी मे जीता था। लन्दन के घंटाघर की आवाज उस समय संसार भर के लोग भले ही न सुनते हों, लेकिन अपने पड़ोसियों के कराहने की आवाज उन्हे सुनायी देती थी। उस समय आँसू आज की अपेक्षा ज्यादा बहते थे और अधिक सहजता से बहते थे। आज काम तभी किये जाते हैं, जब वे पेट के लिए जरूरी हो जायें, मगर, उस समय के कारीगर काम करते समय आमदनी की बात नहीं सोचते थे। और यह कितनी अच्छी बात थी कि उस समय

कारीगर का बनाया सामान ही बेचा जाता था, खुद कारीगर नहीं बिकता था।

इतने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मध्यकालीन समाज में अतृप्ति नहीं थी। अतृप्ति थी, मगर वह किसी और दिशा में थी। वह समय भी असन्तोष का समय था, आंदोलन का काल था। संसार ईश्वरमय है, यह बात तो मध्यकालीन चिंतक जानते थे, लेकिन ईश्वर को पाने की राह क्या है, इसे लेकर उनके भीतर एक मंथन चला करता था। ऊपर से नदी शांत थी, नीचे विचार खौल रहे थे। मध्य-कालीनता का युग साधना का युग है, सिद्धि का नहीं। वह अन्वेषण का समय है, प्राप्ति का नहीं। और तब आधुनिकता ने प्रवेश किया। नतीजा यह हुआ कि जो जगत ईश्वर-प्रेरित समझा जाता था, उसकी शासिका बुद्धि बन गयी। इसलिए, जो संसार पहले रहस्य था, अब वह समस्या बन गया। अदृश्य पर चिंतन करने से दर्शन उत्पन्न हुआ था। दृश्य पर चिंतन करते-करते विज्ञान का उदय हुआ। पुरानी सभ्यता कल्पना और विचार के संयोग से बनी थी। नयी सभ्यता विज्ञान और टेकनालॉजी से तैयार हुई। टेकनालॉजी के अभाव से पुरानी सभ्यता में जो कमी थी, उस कमी की पूर्ति उसने आदर्शों से युक्त वातावरण की रचना करके की थी। उस समय के लोग सुखी कम, सन्तुष्ट अधिक थे। प्रकृति को जीतने से अधिक उन्हें अपने आपको जीतने की चिंता थी। नयी सभ्यता को भी मालूम है कि उसकी योजना पूरी नहीं है, मगर, जो चीज़ उसने मनुष्य से छीन ली हैं, उसकी पूर्ति वह शारीरिक सुखों का अधिकाधिक विकास करके कर रही है, मानो, वह मनुष्य से यह कहना चाहती हो कि आध्यात्मिक जिज्ञासा बिलकुल फालतू चीज़ है, सुख असल में वही है, जो किसी न किसी इन्द्रिय से प्राप्त किया जाता है। जब बाहर मैंने इतने सामान मुहैय्या कर रखे हैं, तब भीतर झाँकने की जरूरत क्या है ?

जब संसार रहस्य था, मनुष्य में विनम्रता थी। जब से वह समस्या बन गया, आदमी उद्धत और अधीर हो गया है।

सबसे बड़ा ढिंढोरा आधुनिकता इस बात का पीटती है कि बुद्धिवाद के तीखे औज़ार से उसने मनुष्य की सभी जंजीरें काटकर उसे सभी दासताओं से मुक्त कर दिया है, जो दावा एक तरह से ठीक है। अफसोस की बात यह है कि मनुष्य को यही मालूम नहीं कि इस मुक्ति को लेकर वह क्या करे। बुद्धिवाद, टेकनालॉजी और विज्ञान द्वारा सिद्ध मुक्ति उस गरुड़ की मुक्ति नहीं है, जो डैने खोलकर आकाश में उड़ता है, बल्कि उस कुत्ते की मुक्ति है, जो जंजीरों से छूटकर सड़क पर आ गया है और ट्रैफिक में कुचल जाने के भय से इधर-उधर भाग रहा है। खुला कुत्ता जो भी चाहे, कर सकता है; जहाँ भी चाहे, जा सकता है। लेकिन उसे यह कौन बताये कि उसे कहाँ जाना चाहिए और चारों ओर के खतरों से अपनी रक्षा कैसे करनी चाहिए ? विज्ञान शक्ति देता है, यह बात सत्य है। किन्तु इस शक्ति का उपयोग आदमी किस चीज के लिए करे, इस सवाल का जवाब विज्ञान को मालूम

नहीं है। मालूम होता, तो आणविक शक्ति का उपयोग आदमी आदमी के संहार के लिए नही करता।

आधुनिकता का हम विरोध नही, स्वागत करते हैं। हमारा ध्येय केवल यह है कि विज्ञान और टेक्नालॉजी से हमें जो शक्ति प्राप्त हुई है, उसका उपयोग हम एक ऐसी दुनिया बनाने के लिए करें, जो वैज्ञानिक और रहस्यवादी, दोनों के लिए अनुकूल हो। ऐसा नही है कि दुनिया में वैज्ञानिक कम और रहस्यवादी ज्यादा हुआ करते हैं। प्रत्येक युग में दोनों की सख्या बहुत थोड़ी रही है। आधुनिकता अगर मनुष्य को केवल शरीर मानती है, तो भारत का इस बात में उससे स्पष्ट विरोध है, क्योंकि हम आत्मा और शरीर, दोनों के अस्तित्व मे विश्वास करते है। और इसलिए हमारा मनसूबा है कि हम, आधुनिक हो जाने पर भी, भारतीय यानी कुछ-कुछ प्राचीन बने रहेंगे और इसलिए प्राचीन बने रहेंगे कि आधुनिकता के साथ जहर की जो थोडी लपेट लगी है, उसे केवल प्राचीनता का कूपजल ही धो सकता है। आधुनिकता से मनुष्य का सुख तो बढ़ा है, लेकिन उसकी शान्ति घट गयी है; बल, बुद्धि और अहकार तो बढा है, मगर करुणा और विनम्रता घट गयी है। यह अभाव, किसी-न-किसी रूप मे, धर्म के वापस आने से दूर होगा। इसलिए हम चाहते हैं कि आधुनिकता ने भौतिकी और ज्योतिष का जो रूखा-सूखा और ऊजड़ विश्व बसा रखा है, उसमे हम जहां-तहां रहस्य के भी कुछ मन्दिर खड़े कर दें।

स्फुट चिंतन

(१)

परम्परा और आधुनिकता का द्वन्द्व आज फिर सताने लगा। सोचता हू, विरासत मे हमे जो कुछ मिला है, वह जुगाने के लिए मिला है; रक्षा, पालन और विकास के लिए मिला है। यह चिन्तन का एक पक्ष है। मगर फिर शंका उठती है, क्या परम्परा का पालन नवीनता की उपेक्षा करके करना होगा? भारत की सस्कृति और परम्परा बहुत पुरानी है। हम एक ऐसे घर मे जी रहे हैं, जो बडा तो है, मगर बहुत पुराना है। यह घर शताब्दियो, सहस्राब्दियो के असबाबो से खचाखच भरा हुआ है। कही ऐसा तो नही है कि नये असबाबो को हम उपेक्षित कोनो में डालते जा रहे हैं? संस्कृति, परम्परा और इतिहास जब लम्बे और समृद्ध होते है, वे दमघोटू बन जाते है और वर्तमान को ठीक से सास भी नही लेने देते। अश्वत्थ का मोटा और विशाल वृक्ष, जो छाया तो खूब देता है, मगर अपने नीचे की जमीन पर पौधो को उगने नही देता।

(२)

हरमन हेस का निबंध 'यूरोपियन निहिलिज्म' पढा। यूरोप ने अनेक प्रकार के सत्य गढ लिये हैं, जो अपनी-अपनी जगहो पर सही और दुरुस्त हैं। मगर इनमे से किसी भी सत्य में यूरोप तहे-दिल से विश्वास नही करता। पुराने मूल्य अविश्वसनीय हैं। नये मूल्य सिर्फ शका जगाकर चले जाते हैं। ऐसी अवस्था मे आदमी के पास कोई ऐसी मान्यता रह नही जाती, जिसका सहारा लेकर वह अपनी अविवेकी प्रवृत्तियो का नियत्रण या सुसचालन कर सके। हमारी सहज वृत्तियो का मूल हमारे अवचेतन के समुद्र मे डूबा हुआ है। मूल्य और मान्यताएँ अब तक इन वृत्तियों को बँधे घाट मे चलाती थी। अब घाट के बाँध ही गायब हो गये हैं। यूरोप अभी अनेक उच्छृंखलताओ और अराजकताओं से होकर गुजरेगा। तब शायद वह भविष्य के किसी घाट पर पहुँच सके और उस नये मनुष्य को जन्म दे सके, जिसकी चर्चा

तो है, मगर परिभाषा नही है। रावर्ट मूसिल ने भी हेस के इस विचार का समर्थन किया है कि अराजकता मे से गुजरे बिना आदर्श लोक तक पहुँचना असम्भव है।

(३)

कला मे अमूर्त्त शैलियों को प्रश्रय गाँवो नही, नगरों से मिलता है। अमूर्त्त शैली प्रसादविहीन होती है। विचित्र बात यह है कि वह सबसे ज्यादा उन्हें पसन्द आती है, जिनके जीवन मे एकान्त का अभाव है। जो दिनभर लोगों से मिलते ही रहते है, मगर जो सबके साथ बरामदे मे ही मिलते हैं, किसी को भी कोठरी के भीतर नही ले जाते। रूसी क्रान्ति से प्रेरित भावना को इतना श्रेय अवश्य दिया जाना चाहिए कि उसने अमूर्त्तता को केवल प्रयोग बनने से बचा लिया। लेकिन यह निश्चित दीखता है कि भविष्य के मानव का नाटक नगरो की ही पृष्ठभूमि पर खेला जायगा।

(४)

नया युग तो हिन्दी मे भी बीत रहा है, मगर हमारा पुरानापन अभी भी हमसे चिपटा हुआ है। हिंदी मे वे भी पुस्तको को संदेशविहीनता के लिए नकारते हैं, जो अपने को आधुनिक समझते हैं। साहित्य की परम्परागत धारणा उन पर भी छायी हुई है, जो अपने को आधुनिकता का प्रतीक समझते हैं। कविता के सार मात्र से अभी कोई संतुष्ट नही है। हर कोई संदेश खोजता है। मेरी काव्य-पुस्तक 'उर्वशी' की आलोचना मे जितनी बातें किताब के खिलाफ कही गयी, उनमें संदेशविहीनता का ही इलजाम बार-बार लगाया गया और वही इलज़ाम सब से फालतू था।

(५)

नयी कविता के प्रति मेरा भाव सात्विक जिज्ञासा का है, किन्तु काफी भक्ति से पढने पर भी नयी कविता मे मुझे वह चीज नही मिलती, जिसका मजा लेने को मैं कविता पढने का आदी रहा हूँ। और इसी सच्चाई के साथ बहुत-से नये कवि और आलोचक मानते हैं कि असली कविता का आरम्भ अब हुआ है। अब तक जो कुछ लिखा गया था, वह आवेश की तुकबन्दी थी। पुराने और नये के बीच जो सम्बन्ध बन गया है, वही बतलाता है कि हम इतिहास के संकट की घडी से गुजर रहे हैं। विद्रोह केवल मुक्त चेतना का नशा और अराजकता का आनन्द नही है। उसके साथ मर्दानगी की बातें भी होती है। नये कवि जिस निर्भयता, स्पष्टता और उत्साह से लिखते हैं, वह उनकी मर्दानगी का सबूत है। लक्ष्य का उन्हे शायद पता नही है, गन्तव्य स्थान को वे नही जानते, लेकिन परम्परा के घर से वे कहीं-न-कहीं जाने को निकल पड़े हैं। अतीत या परम्परा की विरासत हमें स्थायित्व के लिए मिली है, इस बात को नये कवि नही स्वीकार करते। पश्चिम से आने वाली अत्याधुनिक अनुभूतियों की जो लहर उन्हें छू रही है, वह बतलाती है कि अतीत कुछ नही है, भविष्य भी कुछ नही है. असली तत्त्व वर्तमान है। अतीत से मिली हुई चीज़ भी

तब तक ग्रहण करने के योग्य नहीं है, जब तक वह वर्त्तमान की कसौटी पर खरी न पायी जाय। कविता का नया अनुसंधान जरूरी है, काव्यशास्त्र का भी नया अनुसंधान होना चाहिए। नैतिकता, पुण्य और पाप की पुरानी परिभाषाएँ व्यर्थ हैं। हमें उनकी नयी परिभाषाएँ बनानी चाहिए और अगर भाषा की असमर्थता के कारण नयी परिभाषाएँ गढ़ी नहीं जा सकतीं, तो इन शब्दों को अपरिभाषित ही छोड़ देना चाहिए। ईश्वर और अध्यात्म भी हमें सांस्कृतिक विरासत के पुछल्ले के रूप में नहीं प्राप्त हो सकते। नये सिरे से उनका भी अनुसंधान आवश्यक है। काल का चरमोच्च बिन्दु वर्त्तमान है। सभी गुजरे युगों की नैतिकता, विश्वास, मान्यता, फैशन और दृष्टिकोण को वर्त्तमान की अदालत में अपना अस्तित्व सिद्ध करना होगा। जब पुराने मूल्यों में आदमी का विश्वास नहीं रह जाता, संस्कृति का महल ढहने लगता है। इससे एक प्रकार की रिक्तता उत्पन्न होती है, एक प्रकार का अकेलापन जन्म लेता है, जिससे आदमी घबराने लगता है। लेकिन इसी अकेलेपन के बीच उसे अपनी उस मूल प्रकृति का ज्ञान होता है, जो परिभाषाओं से परे और अविश्लिष्ट है। नव-लेखन की मानस-भूमि अभी वह भूमि है, जिस पर अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती और टकराती हैं। भविष्य की दिशा परिभाषित नहीं है, इसलिए कोलाहल को हम सर्वत्र स्वतन्त्र पाते हैं।

(६)

नयी कविता ने किसी पद्धति या प्रणाली को जन्म दिया है या नहीं—उस तरह की प्रणाली को, जैसी भक्तिकाल या रीतिकाल या द्विवेदीकाल अथवा छायावाद काल में थी? जब तक एक प्रणाली में समाने वाले सभी तत्त्व अपनी वैयक्तिक विशिष्टताओं का त्याग करके, मोटे तौर पर, किसी एक ध्येय या दिशा को स्वीकार नहीं करते, तब तक प्रणाली की रचना असम्भव होती है। नयी कविता में प्रणाली जैसी चीज मुझे एक ही दिखायी देती है—शैली का विशिष्टीकरण या विकास और नये-नये मॉडल बनाने की चिन्ता। किन्तु, इससे तो कारयित्री प्रतिभा के कुछ अभाव की ही सूचना मिलती है।

(७)

नीत्से ने प्रहार ठीक-ठीक मूल्यों पर नहीं किया है, बल्कि सभ्यता की रुग्णता और थकान पर, जिसके कारण वह नये मूल्यों की सृष्टि नहीं कर पा रही है। नीत्से ने जोश में आकर कहा, ईश्वर मर गया। मगर उसकी आत्मा खुदबुदाती रही कि ईश्वर की मृत्यु के मानी क्या हो सकते हैं। ईश्वर की मृत्यु के मानी है उन महान् मूल्यों की मृत्यु, जो मनुष्य को ईश्वर से जोड़ते हैं। अतएव, नीत्से केवल ईश्वर की मृत्यु की घोषणा करके मौन नहीं हुआ, उसने यह भी कहा कि ईश्वर की मृत्यु बड़ी घटना है। आदमी इस घटना की बराबरी तभी कर सकता है, जब वह खुद ईश्वर बन जाय। इस जर्मन दार्शनिक के बाद फ्रेंच के उपन्यासकार आलबेयर कामू आये।

उन्होंने कहा, नये आदमी का असली दर्द यह है कि ईश्वर को माने बिना वह सन्त हो सकता है या नहीं। भारत की परम्परा के पास इसका जवाब है। बुद्ध संत थे, मगर, ईश्वर-सिद्धि का प्रचार नहीं करते थे। जैन-धर्म के अनुसार ईश्वरत्व मनुष्य के विकास की उच्चतम कल्पना का नाम है। और महर्षि रमण ने भी कई बार कहा था कि ईश्वर देखने या जानने की वस्तु नहीं है। जानना तो केवल यह है कि "मैं कौन हूँ।" लगता है, सत्य का संधान नीत्से का उद्देश्य नहीं था। उसका काम लोगों का पर्दाफाश करना था और वह इसलिए कि लोग जो कहते हैं, उसे आचरते नहीं हैं। जो मूल्य केवल वाणी की शोभा हैं, आचरणों के आधार नहीं, वे अगर व्यर्थ मान लिये गये, तो इसमें आश्चर्य क्या है?

(८)

कविता की स्वायत्तता का आन्दोलन विज्ञान के कारण भी बढ़ा है। ज्यों-ज्यों विज्ञान और टेकनालॉजी का प्रचार हुआ, आदमी उपयोग की ओर ज्यादा झुकने लगा। मगर फूल, तारे, बच्चे, पर्वत, हरियाली आदि का जाहिरा उपयोग तो कुछ भी नहीं है। अतएव सौंदर्य-शास्त्र ने इस बात पर जोर देना शुरू किया कि कला की कृति केवल अपनी भाषा बोलती है, उसकी परिभाषा या व्याख्या अन्य प्रकार की भाषाओं में नहीं दी जा सकती। अगर कला की कृति पर किसी इच्छा, आशा, ध्येय या उद्देश्य का आरोप किया जायगा, तो कृति उसका अवरोध करेगी। मनुष्य की आदत है कि वह काल पर शासन करने वाली शक्तियों के सामने घुटने टेक देता है, जैसे उसने विज्ञान के सामने घुटने टेक दिये हैं। किन्तु, कला अपने साम्राज्य के नियमों को छोड़कर और किसी भी नियम को नहीं मानती। वह हमेशा 'ह्लादैकमयी' और 'अनन्यपरतंत्रा' होती है। नयी कला किसी अमर भाव, विचार या अनुभूति में विश्वास नहीं करती। वह मनुष्य के समकालीन जीवन से कटकर जीना नहीं चाहती। वह क्षणजीवी वास्तविकता का सत या निचोड़ बनना चाहती है। कविता की क्रिया अब अन्य क्रियाओं से तुलनीय नहीं रही। वह केवल अपने सत्य को प्राप्त करना चाहती है। तब भी कवि दो प्रकार के होते हैं—एक वे, जो केवल माध्यम हैं, दूसरे वे, जो माध्यम भी हैं और क्रियाशील भी। अब जो माध्यम हैं, पहले वे शुद्ध कवित्व के उपासक होते थे और जो क्रियाशील हैं, वे सदेशवाही हुआ करते थे।

(९)

जो लोग यह समझते हैं कि भारतीय परम्परा यथेष्ट है, वे भ्रम में हैं। हमारी परम्परा की भी नींद हिल गयी है। यह भाव भारत में भी जग रहा है कि संस्कृति और इतिहास का बोझ कराल है। उसके नीचे वर्तमान को साँस लेने में कठिनाई महसूस होती है। समाज और साहित्य के बीच राजीनामे की राह भारत में भी लुप्त हो रही है। 'आउट साइडर' हमारे बीच भी पैदा होने लगे हैं।

साहित्य भारत में भी उस दिशा की ओर चल पड़ा है, जो अज्ञात है, जिसकी मंजिल के बारे में अभी कोई कल्पना नहीं की जा सकती। यह नहीं कहा जा सकता कि यह साहित्य किसी भी समय आदमी की औसत आदतों के पास लौट आयेगा तथा धर्म और नीति के साथ अपना मेल बैठा कर जियेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस निरुद्देश्य यात्रा का अन्त किसी ऐसी जगह पहुँचकर होगा, जहाँ उसकी सार्थकता सिद्ध हो जायेगी।

(१०)

जिस आन्दोलन को हम आधुनिकता कहते हैं, उससे मिलते-जुलते भावों की लहर भारत में तीन बार उठी है। पहले तो बुद्ध के आविर्भाव के साथ, फिर नानक, कबीर और वेमन्ना के युग में और तब भारत में यूरोप के आगमन के बाद। उन्नीसवीं सदी भारत के महाजागरण का काल है। उस समय भारत के मनीषी आधुनिकता की ओर बड़े वेग से बढ़े थे। किन्तु, दो बातों के कारण आधुनिकता सदेह की वस्तु बन गयी। एक तो इसलिए कि आधुनिकता के प्रतीक अंग्रेज थे, जनता जिनसे घृणा करती थी। दूसरे, जो लोग अंग्रेजी पढ़कर आधुनिक बने, उनमें उदारता और बुद्धिवाद कम था, उच्छृंखलता ज्यादा थी। अतएव नव-जागरण के नेताओं का भाव यह बना कि भारत को आधुनिकता का भी वरण करना है और उसे अपनी परम्परा के सर्वोत्तम गुणों की भी रक्षा करनी है।

यानी विचारकों ने यह समझा कि आधुनिकता ऐसी चीज नहीं है, जिसका वरण करने को हम उन सभी मूल्यों को त्याग दें, जो सहस्राब्दियों से हमारे साथ रहे हैं। भारत में जो कुछ भी है, उसे धो-पोंछकर फेंक देना और स्वच्छ स्लेट पर बिलकुल नवीन अक्षर लिखना, भारत का मत इसके खिलाफ बना। उन्नीसवीं सदी में जो रास्ता बना, हम उसी पर आज भी चल रहे हैं।

आधुनिकता और आधुनिकीकरण में भेद है। आधुनिकता बुद्धिवादी मनोवृत्ति को कहते हैं। आधुनिकीकरण का अर्थ उद्योग, समृद्धि, सैन्यबल, साक्षरता और अवकाशहीनता है। जितने भी अविकसित देश है, वे आधुनिकता नहीं, आधुनिकीकरण की ओर लोभ से देख रहे हैं। यूरोप में आधुनिकता पहले आयी थी, आधुनिकीकरण बाद को प्रकट हुआ। पहले बुद्धिवादी दृष्टिकोण की प्रधानता हुई, विज्ञान उसके बाद बढ़ा। यानी यूरोप का मन पहले बदला, शरीर बाद को। भारत और एशिया के देश चाहते हैं कि शरीर तो उनका यूरोप जैसा हो, लेकिन मन अपना ही रहे।

यह कहाँ तक सम्भव या उचित होगा, यह प्रश्न विचारणीय है। संभव वह इसलिए है कि टेकनालॉजी के जरिये अब अन्धविश्वासी सेठ भी कल-कारखाने बढ़ा सकते हैं और ठीक-ठीक असंभव तो नहीं, पर असंगत वह इसलिए है कि अन्ध-विश्वासी मन के साथ विज्ञान का मेल नहीं बैठता।

सोचने की बात यह है कि आधुनिकता के प्रति हम में झिझक कहां पर है। मेरा खयाल है, उसे उन मूल्यों के इर्द-गिर्द होना चाहिए, जो धर्म से सम्बद्ध रहे हैं। लेकिन इस गुत्थी का विश्लेषण भी आसान नहीं है। इस देश में ऐसे लोग हैं, जो गो माता को धर्म का प्रतीक समझते हैं और ग्रहण-स्नान को पुण्य-कृत्य मानते हैं। लेकिन ऐसे अंधविश्वासी लोगों के बीच भी धर्म के सही मूल्य आदर पाते रहे हैं। बुद्ध नास्तिक थे, मगर उन्हें यही जनता अवतार मानती है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर नास्तिक थे, मगर जनता उन्हें धार्मिक समझती थी। स्वामी विवेकानंद विधर्मियों के बीच रहे थे, किन्तु वे धर्म के उद्धारक समझे जाते हैं।

धर्म के प्रसंग में आधुनिकता की दो प्रवृत्तियां स्पष्ट दिखायी देती हैं। एक यह कि विज्ञान जहां तक देख सकता है, वास्तविकता उतनी ही है। अतएव, परलोक या अदृश्य वास्तविकता है ही नहीं और ईश्वर की कल्पना फिजूल है। आधुनिकता की इसी प्रवृत्ति ने सभ्यता को राक्षसी बना दिया है, क्योंकि इस विचारधारा का स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि पुलिस से छिपकर जो कुछ भी किया जाय, वह पुण्य है। अफसोस की बात है कि यह दोष ऐसे लोग भी कर रहे हैं जो भ्रमवश अपने को धार्मिक समझते हैं।

धर्म के प्रसंग में आधुनिकता की दूसरी प्रवृत्ति यह है कि शास्त्र के वचन प्रमाण नहीं हैं। धर्म सांस्कृतिक परम्परा के रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता। मनुष्य बालिग हो चुका है। वह भावुक किशोर नहीं है। उसे अब श्रद्धा का भी अनुसंधान चिंतन और समझदारी से करना चाहिए। चिंतन और समझदारी से अनुसंधानित धर्म ही आधुनिक धर्म है।

जो लोग यह समझकर निश्चिन्त बैठे हुए हैं कि भारत की सांस्कृतिक परंपरा यथेष्ट है, वे भ्रम में हैं। नवयुग के आगमन के साथ भारत में भी परिवर्तन हुए हैं तथा धर्म और आध्यात्मिकता के रूप बदल रहे हैं। हमें भी अपनी आध्यात्मिकता का अनुसंधान विचार और समझदारी से करना है। तभी आध्यात्मिकता पर हमारी श्रद्धा ठहर सकेगी। और इस दिशा में भी भारत उदासीन नहीं रहा है। भक्ति, ज्ञान, कर्म और योग—ये भारतीय साधना के चार मार्ग हैं और नवयुग के आगमन के साथ चारों के रूप परिवर्तित हो गये हैं। भक्ति का नया रूप परमहंस रामकृष्ण में, ज्ञान का महर्षि रमण में, कर्म का महात्मा गांधी में और योग का का महर्षि अरविन्द में प्रकट हुआ है।

(११)

समृद्धि की वृद्धि से कई दोष उत्पन्न हुए। नर-नारी का सम्बन्ध अधिक तेजी से गलत रास्ते की ओर जाने लगा। लोग खूब मौज से रहने लगे। वे यह बात भूल ही गये कि संसार में गरीब और ऐसे असहाय लोग भी हैं, जिन्हें खाना नहीं मिलता। औद्योगीकरण का एक नतीजा यह भी हुआ कि आदमी हृदयहीन हो

साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव

कवि और वैज्ञानिक के बीच समता क्या है, भेद क्या है ? समता सिर्फ एक बात को लेकर है कि कवि और वैज्ञानिक, दोनों प्रेरणा के आलोक में काम करते हैं। जैसे संसार की सभी श्रेष्ठ कविताएँ प्रेरणा की कौंध से जनमी हैं, उसी प्रकार विज्ञान के भी आविष्कार प्रेरणा की कौंध से उत्पन्न होते हैं। सत्य की झलक पाने के लिए यह आवश्यक है कि हमारी चेतना की सुई ठीक ध्रुव की ओर हो। यह अवस्था समाधि और एकाग्रता से प्राप्त होती है। इसी अवस्था में पहुँचने पर कवि को कविता सूझती है और वैज्ञानिक को आविष्कार सूझता है। लेकिन इस एक साम्य के बाद मुझे कविता और विज्ञान के बीच भेद ही भेद दिखायी देते हैं। वैज्ञानिक नियम की खोज में रहता है, शब्दों का व्यवहार वह सुनिश्चित अर्थ के लिए करता है और उसकी हर चीज परिभाषित होती है। किन्तु कविता मनुष्य के जिस अनुभूति-क्षेत्र से आती है, उसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती। और शब्द को सुनिश्चित अर्थ कवि कैसे देगा ? वह तो विचार और शब्द, शब्द और उसके अर्थ के बीच भटकता रहता है।

वैज्ञानिक केवल शरीर पर काम करता है। कवि की यात्रा शरीर और आत्मा के बीच है।

वैज्ञानिक केवल सत्यको देख सकता है। कविता सत्य, शिव और सुन्दर—तीनों का दर्शन एक साथ कर सकती है।

कविता नैतिक भी हो सकती है तथा अनैतिक भी। किन्तु विज्ञान नैतिक-अनैतिक, कुछ भी नहीं होता। वह दोनों से तटस्थ होता है। (यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि जिस वैज्ञानिक ने परमाणु बम बनाया था, उसने हिरोशिमा-कांड के बाद स्वीकार किया था कि बम बनाकर मैंने पाप किया है। तब विज्ञान पर भी नैतिकता के नियम लागू क्यों नहीं किये जाते हैं, जैसे वे साहित्य पर लागू हैं ?)

विज्ञान मनुष्य के हाथ में जो शक्ति देता जा रहा है, उसका उपयोग मनुष्य

किस उद्देश्य के लिए करे, यह बात विज्ञान नहीं बता सकता। किन्तु कविता उसे बता सकती है, यदि कवि केवल शब्दों की आराधना में अपने को समाप्त न कर दे।

कविता परदानशीन, आरामतलब औरत है, जो बादलों पर लेटकर फूल सूँघती है। उसके मुख से केवल सुगन्धित वाक्य निकलते हैं।

विज्ञान चीर-फाड़ के कमरे में खड़ा यन्त्र-मानव है, जो केवल फार्मूले बोलता है।

आधुनिक कवि (यूरोपीय से ज्यादा भारतीय कवि) विज्ञान की नकल करने को ललचा रहे हैं। वे इस बात को भूल गये हैं कि कविता जहाँ-जहाँ से रस और संजीवनी लेती थी, वे सभी स्रोत विज्ञान के ताप से सूखते जा रहे हैं। कौतुक के लिए पद्य की रचना शायद कम्प्यूटर भी कर सकता है। किन्तु विज्ञान को कविता मैं तब मानूँगा जब वह मनुष्य को प्रेरित करने वाली कविता लिख दे। लेकिन यह वह कभी नहीं करेगा। कम्प्यूटर वही चीज उगलेगा, जो मनुष्य उसे खिलायेगा। विज्ञान का सारा क्षेत्र मन की सीमा के भीतर है। किन्तु, कविता मन की सीमा के बाहर से भी आती है। सुर्रियलिस्ट कवि मन की सीमा से बाहर जाने वाले कवि थे। वे मन की सतह से भागकर मन के चंगुल से छूटना चाहते थे। वे किसी ऐसी गहराई में पहुँचना चाहते थे, जहाँ मन और विज्ञान नहीं पहुँच सकते। श्री अरविन्द का तो कहना है कि भविष्य की कविता मन्त्र होगी और यह मन्त्र मन से नहीं, मन के क्षितिज के पार से आयेगा।

विज्ञान ने मनुष्य के जीवन में जो उलट-फेर कर दिया, जो उथल-पुथल मचा दी, उस पर संवेदनशील कवियों ने विलाप किया है।

औद्योगिक सभ्यता जब इंग्लैंड में जोर से फैली, मैथ्यू आर्नल्ड घबरा गये थे। अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा था, "आधुनिक जीवन विचित्र रोग से ग्रस्त हो गया है, जल्दबाजी इसकी बीमारी है, उद्देश्य इसके केन्द्रित नहीं, छिन्न-भिन्न हैं, इसके दिमाग पर इतना बोझ है कि वह उसे ढो नहीं सकता और इसका दिल हरदम धड़कता रहता है।"

इलियट ने कहा था कि लय के बारे में हमारी आधुनिक धारणा शायद अन्दर से जलने वाले इंजिन की गति से प्रभावित हो गयी है। यह स्पष्ट ही गूढ़ व्यंग्य की उक्ति है, क्योंकि इलियट को वैज्ञानिक सभ्यता से निराशा हुई थी।

मन्दिर बनाने के बदले,
हम प्रयोगशालाएँ बनाते हैं।
यज्ञ करने के बदले,
हम प्रयोग करते हैं।

प्रार्थना करने के बदले,
हम प्वायंटर पढ़ते हैं।
हम मनमौजी होने के बदले,
कार्यकुशल और मुस्तैद हो गये हैं।

कोई यह मत समझे कि आर्नल्ड या इलियट के समय में आकर ही कवियों के भीतर विज्ञान के खिलाफ प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई थी। यह प्रतिक्रिया रोमांटिक सम्प्रदाय के कवियों में ही उत्पन्न हो गयी थी। एकालाजी से उत्पन्न संवेदना वर्ड्सवर्थ में थी और इसी कारण उन्हें पेड़ काटकर कारखाना बनाने का काम पसन्द नहीं आया था।

इलियट जिस धारा में उत्पन्न हुए, उसके आदि-स्रोत फ्रेंच के कवि रेम्बू थे, जिनका 'इलूमिनेशन्स' काव्य १८७२ में प्रकाशित हुआ था। लाजिक और बुद्धिवाद के बन्धन को तोड़ने की प्रवृत्ति तथा मन के धरातल से छूटकर कहीं और निकल भागने का भाव सबसे पहले उन्हीं में दिखायी पड़ा था। विज्ञान शृंखला और अनुशासन कायम करता है, क्योंकि उसकी मार्ग-दर्शिका बुद्धि है। किन्तु मनुष्य के भीतर ऐसी भी शक्तियाँ हैं, जो बुद्धि से बहुत आगे तक देखती हैं, जहाँ लाजिक के सम्बन्ध काम नहीं करते। रेम्बू हमें अराजकता के इसी केन्द्र में धकेल देते हैं, विज्ञान से जनमी हुई पद्धति और तर्कबद्ध विचारों से मुक्त कर देते हैं। रेम्बू का विश्वास था कि कवि अपने मन की गहराई में जहाँ तक डूब सकता है, वहाँ तक डूबकर वह अपनी अनुभूति को वाणी दे और इस बात की परवाह नहीं करे कि उस गहराई में उस लाजिक के नियम चलते हैं या नहीं, जिससे मन की सतह पर हमारा परिचय है।

विज्ञान धर्मनिरपेक्ष होता है, श्रेष्ठ कविता किसी न किसी अर्थ में धार्मिक होती है। रेम्बू काम के अतिचार के लिए बहुत बदनाम थे, लेकिन यूरोप में ऐसे भी आलोचक हैं, जो उन्हें धार्मिक मानते हैं और कहते हैं कि रेम्बू की वाणी धुँधली इसलिए हो गयी कि भारतीय रहस्यवाद का उन पर प्रभाव पड़ा था। विज्ञान द्वारा प्रदत्त सम्पन्नता के मारे जब संसार अपनी आत्मा का तिरस्कार करने लगा, तब रेम्बू उस सभ्यता के विरुद्ध विद्रोह बनकर आये थे।

वैज्ञानिक लोग कारीगर, मिस्त्री और मजदूर के समान होते हैं। कवि का स्वभाव किसान के स्वभाव से मिलता-जुलता है। कहते हैं, रेम्बू का मिजाज भी किसान का मिजाज था।

मनुष्य पर प्रभाव तो दुर्जन की भी संगति का पड़ता है। विज्ञान को न हम दुर्जन कह सकते हैं, न सज्जन। फिर भी उसके साथ बढ़ने वाले बुद्धिवाद ने हमारी धारणाओं को बदल दिया है। अतएव यह जानना रोचक है कि विज्ञान का प्रभाव साहित्य पर कहाँ तक पड़ा है।

किस उद्देश्य के लिए करे, यह बात विज्ञान नहीं बता सकता। किन्तु कविता उसे बता सकती है, यदि कवि केवल शब्दो की आराधना मे अपने को समाप्त न कर दे।

कविता परदानशीन, आरामतलब औरत है, जो बादलो पर लेटकर फूल सूँघती है। उसके मुख से केवल सुगन्धित वाक्य निकलते हैं।

विज्ञान चीर-फाड के कमरे में खड़ा यन्त्र-मानव है, जो केवल फार्मूले बोलता है।

आधुनिक कवि (यूरोपीय से ज्यादा भारतीय कवि) विज्ञान की नकल करने को ललचा रहे हैं। वे इस बात को भूल गये हैं कि कविता जहाँ-जहाँ से रस और संजीवनी लेती थी, वे सभी स्रोत विज्ञान के ताप से सूखते जा रहे हैं। कौतुक के लिए पद्य की रचना शायद कम्प्यूटर भी कर सकता है। किन्तु विज्ञान को कविता मैं तब मानूँगा जब वह मनुष्य को प्रेरित करने वाली कविता लिख दे। लेकिन यह वह कभी नही करेगा। कम्प्यूटर वही चीज उगलेगा, जो मनुष्य उसे खिलायेगा। विज्ञान का सारा क्षेत्र मन की सीमा के भीतर है। किन्तु, कविता मन की सीमा के बाहर से भी आती है। सुररियलिस्ट कवि मन की सीमा से बाहर जाने वाले कवि थे। वे मन की सतह से भागकर मन के चंगुल से छूटना चाहते थे। वे किसी ऐसी गहराई में पहुँचना चाहते थे, जहाँ मन और विज्ञान नही पहुँच सकते। श्री अरविन्द का तो कहना है कि भविष्य की कविता मन्त्र होगी और यह मन्त्र मन से नही, मन के क्षितिज के पार से आयेगा।

विज्ञान ने मनुष्य के जीवन में जो उलट-फेर कर दिया, जो उथल-पुथल मचा दी, उस पर संवेदनशील कवियो ने विलाप किया है।

औद्योगिक सभ्यता जब इंग्लैंड मे जोर से फैली, मैथ्यू आर्नल्ड घबरा गये थे। अपनी एक कविता मे उन्होंने लिखा था, "आधुनिक जीवन विचित्र रोग से ग्रस्त हो गया है, जल्दबाजी इसकी बीमारी है, उद्देश्य इसके केन्द्रित नहीं, छिन्न-भिन्न हैं, इसके दिमाग पर इतना बोझ है कि वह उसे ढो नही सकता और इसका दिल हरदम धड़कता रहता है।"

इलियट ने कहा था कि लय के बारे में हमारी आधुनिक धारणा शायद अन्दर से जलने वाले इंजिन की गति से प्रभावित हो गयी है। यह स्पष्ट ही गूढ व्यंग्य की उक्ति है, क्योंकि इलियट को वैज्ञानिक सभ्यता से निराशा हुई थी।

मन्दिर बनाने के बदले,
हम प्रयोगशालाएँ बनाते हैं।
यज्ञ करने के बदले,
हम प्रयोग करते हैं।

प्रार्थना करने के बदले,
हम प्वायंटर पढ़ते हैं।
हम मनमौजी होने के बदले,
कार्मकुशल और मुस्तैद हो गये हैं।

कोई यह मत समझे कि आर्नल्ड या इलियट के समय में आकर ही कवियों के भीतर विज्ञान के खिलाफ प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई थी। यह प्रतिक्रिया रोमांटिक सम्प्रदाय के कवियों में ही उत्पन्न हो गयी थी। एकालाजी से उत्पन्न संवेदना वर्ड्सवर्थ में थी और इसी कारण उन्हें पेड़ काटकर कारखाना बनाने का काम पसन्द नहीं आया था।

इलियट जिस धारा से उत्पन्न हुए, उसके आदि-स्रोत फ्रेंच के कवि रेम्बू थे, जिनका 'इलुमिनेशन्स' काव्य १८७२ में प्रकाशित हुआ था। लाजिक और बुद्धिवाद के बन्धन को तोड़ने की प्रवृत्ति तथा मन के धरातल से छूटकर कहीं और निकल भागने का भाव सबसे पहले उन्हीं में दिखायी पड़ा था। विज्ञान श्रृंखला और अनुशासन कायम करता है, क्योंकि उसकी मार्ग-दर्शिका बुद्धि है। किन्तु मनुष्य के भीतर ऐसी भी शक्तियाँ हैं, जो बुद्धि से बहुत आगे तक देखती हैं, जहाँ लाजिक के सम्बन्ध काम नहीं करते। रेम्बू हमें अराजकता के इसी केन्द्र में धकेल देते हैं, विज्ञान से जनमी हुई पद्धति और तर्कबद्ध विचारों से मुक्त कर देते हैं। रेम्बू का विश्वास था कि कवि अपने मन की गहराई में जहाँ तक डूब सकता है, वहाँ तक डूबकर वह अपनी अनुभूति को वाणी दे और इस बात की परवाह नहीं करे कि उस गहराई में उस लाजिक के नियम चलते हैं या नहीं, जिससे मन की सतह पर हमारा परिचय है।

विज्ञान धर्मनिरपेक्ष होता है, श्रेष्ठ कविता किसी न किसी अर्थ में धार्मिक होती है। रेम्बू काम के अतिचार के लिए बहुत बदनाम थे, लेकिन यूरोप में ऐसे भी आलोचक हैं, जो उन्हें धार्मिक मानते हैं और कहते हैं कि रेम्बू की वाणी धुँधली इसलिए हो गयी कि भारतीय रहस्यवाद का उन पर प्रभाव पड़ा था। विज्ञान द्वारा प्रदत्त सम्पन्नता के मारे जब संसार अपनी आत्मा का तिरस्कार करने लगा, तब रेम्बू उस सभ्यता के विरुद्ध विद्रोह बनकर आये थे।

वैज्ञानिक लोग कारीगर, मिस्त्री और मजदूर के समान होते हैं। कवि का स्वभाव किसान के स्वभाव से मिलता-जुलता है। कहते हैं, रेम्बू का मिजाज भी किसान का मिजाज था।

मनुष्य पर प्रभाव तो दुर्जन की भी संगति का पड़ता है। विज्ञान को न हम दुर्जन कह सकते हैं, न सज्जन। फिर भी उसके साथ बढ़ने वाले बुद्धिवाद ने हमारी धारणाओं को बदल दिया है। अतएव यह जानना रोचक है कि विज्ञान का प्रभाव साहित्य पर कहाँ तक पड़ा है।

वैज्ञानिक युग का साहित्य उस युग से पूर्व के साहित्य से किन रूपों में भिन्न है ?

पहले जब राम या कृष्ण के चरित्र लिखे जाते थे, तब उन्हें धर्म-संस्थापक और दुष्कृत-विनाशक ईश्वरावतार के रूप में चित्रित किया जाता था। यह विज्ञान का प्रभाव है कि अब वे समाज-सुधारक, लोक-आराधक अथवा संशयग्रस्त मनुष्य के रूप में दिखाये जाते हैं। साधुओं और सन्यासियों के चरित्र भी पहले उच्च कोटि के दिखाये जाते थे। केवल 'प्रबोध-चन्द्रोदय' में उन्हें व्यभिचारी के रूप में चित्रित किया गया था। लेकिन, यह अपवाद था। किन्तु थाय और 'चित्रलेखा' में काम के समक्ष सन्यास की पराजय का जो दृश्य अंकित हुआ है, उसे नये जमाने ने खूब पसन्द किया है। इसी प्रकार अगर कर्ण के रथ के चक्के धरती में धँस गये थे, तो यह बात अब खोलकर कहनी होगी कि वहाँ दलदल था। और कौरवों की सभा में यदि भगवान कृष्ण ने विराट् रूप दिखाया था, तो पाठकों को अब यह बात भी समझा देनी होगी कि भगवान के विराट होने पर छतें नहीं टूटी थी, दीवारें नहीं गिरी थीं। और कच-देवयानी की कथा कहनी हो, तो इसका उल्लेख नहीं करना चाहिए कि कच ने शुक्राचार्य से सजीवनी विद्या कैसे सीखी थी। उस कहानी में कच और देवयानी का प्रेम ही प्रधान है।

पुरानी कविता में शयन-कक्ष में मणियों के दीप बलते थे और नायिकाओं को जब सकोच होता था, तब वे मुट्ठी भर पुष्परेणु फेंककर दीपक की ज्योति को छिपा देती थीं। अब नायिकाओं को सकोच कम होता है और सकोच हो भी, तो बिजली का बटन दबा देना लज्जा से बचने का सुगम उपाय है। जैसे विज्ञान ने जीवन में खोज-खोजकर उन सभी रहस्यों को रहस्यहीन कर दिया, जिन्हें लेकर पहले लोग आश्चर्य करते थे, वैसे ही साहित्य के बहुत-से रहस्य-कुंज विज्ञान के प्रभाव से उजाड़ हो गये। अब उनका आश्रय लेकर कविताएँ नहीं लिखी जा सकतीं।

विज्ञान और टेकनालॉजी के प्रचार से साहित्य के परिवेश में परिवर्तन आ गया और उसका बड़ा भारी प्रभाव साहित्य पर पड़ा है, यह बिलकुल स्पष्ट है। सध्या के भीतर एथेराइज्ड रोगिणी का रूपक पहले नहीं देखा जा सकता था। वैसे ही 'एल्युमूनियम के हंस' की कल्पना उस समय नहीं की जा सकती थी, जब हवाई जहाज नहीं थे। किन्तु विज्ञान का प्रभाव रूपकों और बिम्बों तक ही सीमित नहीं रहा है। साहित्य के भीतर वह अत्यन्त गहराई में उतर गया है। उसका प्रभाव साहित्य की शैली पर भी पड़ा है और उससे साहित्य का भाव भी आक्रान्त हुआ है।

भाव-पक्ष में सबसे बड़ा परिवर्तन शायद बुद्धिवाद को लेकर आया है। बुद्धिवाद का चरम प्रभाव यह हुआ कि सृष्टि यन्त्र समझी जाने लगी, जिसके पुर्जे गणित

और यन्त्रविज्ञान के अनुसार काम करते हैं। इस मान्यता से स्वभावत: ही यह अनुमान निकल आया कि सृष्टि यदि यन्त्र है, तो इसके निर्माण के लिए ईश्वर की कल्पना अनिवार्य नहीं है। फिर खगोलवादियों ने यह कल्पना रखी कि पृथ्वी गोल है और असख्य गोल नक्षत्रों की तरह वह भी शून्य में लटकी हुई है। इससे मनुष्य की यह कल्पना नष्ट हो गयी कि पृथ्वी सृष्टि का केन्द्र है तथा ईश्वर की योजना में उसका कोई खास स्थान है।

तब डारविन का 'जीवों की उत्पत्ति' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने यह स्थापना रखी कि आदमी ईश्वर का पुत्र नहीं है, वह बन्दर से बढ़कर आदमी हुआ है। फिर मार्क्स आये। उन्होंने स्थापना यह रखी कि धर्म, नैतिकता, कला और अध्यात्म के क्षेत्र में मनुष्य ने जो भी मूल्य निरूपित किये हैं, वे लोकोत्तर मूल्य नहीं हैं। इन मूल्यों का विकास समाज की अर्थ-व्यवस्था के अनुसार हुआ है। अतएव धर्म-अधर्म, नैतिकता-अनैतिकता तथा पाप और पुण्य की भावनाओं को लोकोत्तर चेतना से संपृक्त मानना कोरा अन्धविश्वास है। आदमी अपना कोई भी निर्णय लेने में स्वतन्त्र नहीं है। सभी निर्णय वह उस अर्थ-व्यवस्था के अनुसार लेता है, जिसमें उसका जन्म और विकास हुआ है।

और सबके अन्त में फ्रायड का मनोविज्ञान आया, जिसने यह कहा कि आदमी का जप-तप, योग और वैराग्य, सभी ऊपरी बातें हैं। वह अपने किसी भी कार्य में स्वाधीन नहीं है। उसके भीतर अपनी और मनुष्य-जाति की युगों की अगणित अदम्य वासनाएँ दबी पड़ी हैं और आदमी के कर्म इन्हीं अज्ञात वासनाओं की प्रेरणा का अनुगमन करते हैं। सच तो यह है कि हम इन वासनाओं का उपभोग नहीं करते, ये वासनाएँ ही हमारा उपभोग करती हैं, हम उन्हें नहीं जीते, उन्हीं के द्वारा हम जिये जाते हैं।

मनोविज्ञान की एक अन्य शाखा आचरणवाद ने यह सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य अपने आचरण में स्वतन्त्र नहीं है। परिस्थितियाँ जैसी होती हैं, मनुष्य का आचरण भी वैसा ही होता है।

डारविन ने मनुष्य से उसका देवत्व छीन लिया। मार्क्स ने आदमी की सदाशयता की जड़ खोद डाली। और फ्रायड ने यह सिद्ध कर दिखाया कि आदमी का अपने को बुद्धिवादी समझना बिलकुल फालतू बात है। सो बुद्धिवाद का असली प्रभाव यह निकला कि आदमी को यह मान लेना पड़ा कि वह बुद्धिवादी नहीं है।

न्यूटन, डारविन, मार्क्स और फ्रायड, इन सभी चिंतकों का प्रभाव एक-दूसरे को पुष्ट करने वाला है। किन्तु, वर्गीकरण करने का प्रयास किया जाय, तो पता यह चलेगा कि आस्तिकता को अवलम्ब देने वाला आधार सबसे अधिक न्यूटन और डारविन के कारण नष्ट हुआ है, यद्यपि कहा जाता है कि न्यूटन खुद आस्तिक मनुष्य थे। साहित्य में जो प्रगतिवादी धारा फूटी, उसके उत्स मार्क्स हैं। और

अभिनव साहित्य में जो काम की अंधी आराधना प्रचलित हो गयी है, उस धारा को सर्वाधिक प्रेरणा फ्रायड से मिली है।

जब से समाज में विज्ञान को अपरिमित प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी, विद्या की ऐसी अनेक शाखाएँ अपने को विज्ञान कहने को ललचाने लगी हैं, जो सचमुच विज्ञान नहीं है। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि अब कवि भी भाव और शैली, दोनों ही क्षेत्रों में विज्ञान का अनुकरण करना चाहता है। चूँकि विज्ञान आवेशमयी भाषा का प्रयोग नहीं करता, इसलिए, नये कवि और लेखक भी आवेशमयता से बचे रहना चाहते हैं। चूँकि विज्ञान शब्दों के मामले में मितव्ययी होता है, अतएव नवलेखन भी शब्दों की मितव्ययिता बरतना चाहता है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि शब्दों की मितव्ययिता से साहित्य की शक्ति बढ़ती है। उसे पहले के भी साहित्यकार सदैव बरतते थे। और चूँकि विज्ञान का लक्ष्य वस्तुओं का यथातथ्य वर्णन होता है, अतएव नये लेखक और कवि भी कल्पना की लगाम हमेशा अपने हाथ में रखते हैं और बराबर सतर्क रहते हैं कि उनका वर्णन अतिरंजित न हो जाय। वैज्ञानिक का एक लक्षण यह भी है कि वह दूसरों को प्रभावित करने को न तो एक शब्द लिखता है, न एक शब्द बोलता है। अगर वह दूसरों को प्रभावित करने की इच्छा से लिखने या बोलने लग जाय, तो जनता वैज्ञानिक पर श्रद्धा नहीं, सन्देह करने लगेगी। मेरा खयाल है, यह विज्ञान का ही प्रभाव है कि साहित्य में अब 'रेटारिक' गुण नहीं, दोष माना जाने लगा है। विज्ञान का एक गुण यह भी है कि वह निन्दा और स्तुति, दोनों से तटस्थ रहकर सत्य की शोध में लगा रहता है। वैज्ञानिक युग के उत्तम साहित्यकार भी लिखते समय निन्दा और स्तुति से परे रहकर केवल यह सोचते रहते हैं कि जो कुछ वे लिखना चाहते हैं, वह चीज ठीक से उनकी समझ में आ रही है या नहीं तथा लिखते समय में उसी का यथातथ्य वर्णन करते हैं अथवा निन्दा के भय या प्रशंसा के लोभ से कुछ इधर-उधर भी बहक रहे हैं।

केवल एक कठिनाई है जिस पर कवियों को विजय नहीं मिल रही है और वह यह कि विज्ञान में एक शब्द एक ही अर्थ देता है, किन्तु साहित्य में एक शब्द से अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं। मेरा सोचना यह है कि यह अच्छा है कि कवि इस कठिनाई का पार नहीं पा रहा है। क्योंकि जिस दिन साहित्य में प्रयुक्त शब्द भी एक ही अर्थ देने लगेगा, उस दिन लक्षणा और व्यंजना की लीला समाप्त हो जायगी और एकमात्र अभिधा पर अवलम्बित हो जाने के कारण साहित्य भी साहित्य न रहकर किसी प्रकार का विज्ञान बन जायेगा।

विज्ञान के प्रभावों को स्वीकृत करने का लोभ सबसे पहले अंग्रेजी के मेटाफिजिकल कवियों में जगा था। मेटाफिजिकल कवि बुद्धि और मन की सीमा से परे देखने की कोशिश नहीं करता, वह चिंतन का अभ्यासी होता है। वह कल्पना

को कुहासे के पास नही छोड़ता, चीजों को वह अधिक से अधिक पास लाकर देखता है। प्रीति भी ऐसे कवियों में हृदय की वस्तु न रहकर मस्तिष्क की चीज बन जाती है। विचार को भावना के धरातल पर लाकर देखने से मेटाफिजिकल कविता बनती है। मेटाफिजिकल मे अध्यात्म की ध्वनि निकलती है, किन्तु मेटाफिजिकल काव्य आध्यात्मिक काव्य नही है। डोन आध्यात्मिक कवि नही थे, आध्यात्मिक कवि ब्लेक थे और वे मेटाफिजिकल नही थे। मेटाफिजिकल विशेषण से तात्पर्य यह है कि जैसे दार्शनिक और वैज्ञानिक अपने तर्कों को ठीक कसावट में रखते हैं, वैसे ही मेटाफिजिकल कवि की कविता मे भी तरंग और फेन नहीं, लोहे का कसाव होता है। यहाँ शब्दो में तो मितव्ययिता होती ही है, मितव्ययिता विचार में भी बरती जाती है और कल्पना कभी भी बेलगाम नही हो पाती। स्पष्ट है कि यह शैली विज्ञान से प्रभावित होती है, अतएव वह कड़ी और कुछ रुक्ष भी होती है।

मेटाफिजिकल काव्य का आनन्द सम्बुद्धि (इनटुइशन) की लहर का आनन्द नही होता। यह वह आनन्द है, जो बुद्धि की विजय और तर्कों की सार्थकता से उत्पन्न होता है। विज्ञान और मेटाफिजिकल काव्य, दोनो का ध्येय बुद्धि को संतृप्ति देना है।

साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव पड रहा है और वह हमारे रोके रुकने वाला नहीं है। किन्तु सोचने की बात यह है कि क्या यह प्रभाव सर्वथा वांछनीय है, क्या वह अमिश्रित वरदान है। साहित्य के भाव और शैली-पक्ष पर विज्ञान के जो प्रभाव पड़े हैं, उनमे से अनेक वांछनीय रहे हैं, मगर अनेक ऐसे भी हैं जिन्हे देखकर मुझे चिंता होती है। विज्ञान की 'एकुरेसी' यानी यथातथ्यता को अपनाने की चिंता कवियो में बहुत अधिक हो गयी है और इसे मैं चिंता का विषय मानता हूँ। कविता का विलोम गद्य नही, विज्ञान है। फिर विज्ञान का अनुकरण हम कहाँ तक करेंगे? 'क्या और क्यों' पर सोचते-सोचते दर्शनों का जन्म हुआ था। 'कैसे' पर सोचते-सोचते विज्ञान उत्पन्न हुआ है। कथ्य दर्शन है, शैली विज्ञान है। अगर कथ्य को छोड़कर हम सारा जोर शैली पर देंगे, तो निश्चय ही कविता से कवित्व का लोप हो जायगा।

कविता सस्कृति है, सभ्यता विज्ञान है। संस्कृति का नाम सुनते ही हमें कृष्टि, खेती या गाँव की याद आती है। किन्तु सभ्यता नगरो का गुण है। विज्ञान ने महानगरों की संख्या भी बढा दी है। और दिनोदिन वह उनकी सख्या मे वृद्धि करता ही जाता है। आज संसार के दस-बारह महानगरों की समस्या मानव-जाति की समस्या समझी जा रही है, दस-बारह महानगरो की रुचि मानव मात्र की अभिरुचि बतायी जा रही है। साहित्य पर महानगरों का आज जितना प्रभाव है, उतना प्रभाव पहले कभी नही था। इसे भी हम विज्ञान का ही प्रभाव मानते हैं।

वैज्ञानिक सभ्यता सबसे बड़ा ढिंढोरा इस बात का पीटती है, कि बुद्धिवाद के

तीखे औजार से उसने मनुष्य की सभी जजीरें काटकर उसे सभी दासताओं से मुक्त कर दिया है, जो दावा एक तरह से ठीक भी है। अफसोस की बात यह है कि मनुष्य को यही मालूम नही है कि इस मुक्ति को लेकर वह क्या करे। बुद्धिवाद, टेकनालॉजी और विज्ञान द्वारा सिद्ध मुक्ति, उस गरुड़ की मुक्ति नही है, जो डैने खोलकर आकाश मे उडता है, बल्कि वह उस कुत्ते की मुक्ति है, जो जजीरों से छूटकर सडक पर आ गया है और ट्राफिक मे कुचल जाने के भय से इधर-उधर भाग रहा है। खुला कुत्ता जो भी चाहे, कर सकता है, जहाँ भी चाहे, जा सकता है। लेकिन उसे यह कौन बताये कि उसे कहाँ जाना चाहिए और चारो ओर के खतरों से अपनी रक्षा कैसे करनी चाहिए। विज्ञान शक्ति देता है, यह बात ठीक है। किन्तु, आदमी उस शक्ति का उपयोग किस उद्देश्य के लिए करे, यह सकेत बराबर धर्म दिया करता था। और चूँकि विज्ञान के प्रतापी होने से धर्म निरादृत हो गया, इसीलिए विज्ञान से अर्जित शक्तियाँ मनुष्य के लिए अभिशाप बन गयी हैं।

जो साहित्य विज्ञान के प्रभाव मे रचा गया है और जो वैज्ञानिक युग के पूर्व रचा गया था, उन दोनो की तुलना से मुझे तो यही दिखायी देता है कि मध्यकालीन जगत् मे केवल दोष ही दोष नही थे। वह गहरे अन्धकार के साथ उज्ज्वल प्रकाश का भी समय था। यह ठीक है कि उस समय मनुष्य अपने परिवेश को कम जानता था, मगर इसीलिए वह अपनी आलोचना भी थोडी ही करता था। जब दुनिया अँधेरी थी, आसमान साफ था। जब दुनिया रोशनी से भर गयी, आसमान पर अँधियाली छा गयी। पहले मनुष्य को सत्य वहाँ भी दिखलायी पडता था, जहाँ वह था नहीं। अब जो सत्य है, उस पर भी आदमी का विश्वास टिकता दिखायी नही देता है। मध्यकालीन युग केवल तिमिर-ग्रस्तता का शिकार नही था, वह आनन्द और सन्तोष से भी प्रकाशित काल था, जब आदमी चीज़ो मे विश्वास करता था और खुशी की रोशनी मे जीता था। लन्दन के घटाघर की आवाज उस समय संसार भर के लोग भले ही न सुनते रहे हों, लेकिन अपने पड़ोसियो के कराहने की आवाज उन्हे सुनायी देती थी। उस समय आँसू आज की अपेक्षा ज्यादा बहते थे और अधिक सहजता से बहते थे। उस समय कारीगर के बनाये सामान ही बेचे जाते थे, खुद कारीगर नही बिकता था।

मध्यकालीनता की ये बातें बडी अच्छी थी। किंतु विज्ञान की गर्म हवा के लगने से मनुष्य का भावना-स्रोत सूख गया। अब साहित्य में हम ऐसे लोगो का चरित्र-चित्रण देखने लगे हैं, जो मिलते तो बहुत लोगों से हैं, मगर जिनका परिचय किसी से भी नही हो पाता। नि सगता, अकेलापन और जिन्दगी से ऊब इस कदर बढ गयी है कि अब दार्शनिक पूरी गभीरता से यह सोचने लगे हैं कि आखिर जिन्दगी जीने के योग्य है भी या नही। साहित्य पर यह सारा प्रभाव वैज्ञानिक सभ्यता ने

डाला है।

मगर इतना कुछ हो जाने पर भी हमारे हाथ क्या लगा है? आदमी क्या चीज है? जन्म के पहले वह कहाँ रहता है? मृत्यु के उपरान्त वह कहाँ चला जाता है? यह ससार किसी योजना के अधीन है अथवा वह अकस्मात् उछलकर हमारे सामने आ गया है? ईश्वर हो सकता है या नही? अगर वह है, तो इसका सबूत क्या है? अगर वह नही है, तो इसका क्या प्रमाण है? ये और ऐसे अनेक प्रश्न जो मनुष्य को पहले हैरान करते थे, आज भी हैरान कर रहे हैं। हाँ, पहले का आदमी इन प्रश्नो पर सोचते-सोचते सृष्टि को ईश्वर की लीला कहकर सन्तोष कर लेता था, आज वह यह कहकर इन प्रश्नों से छुट्टी ले लेता है कि सृष्टि एक समस्या है, एक अभेद्य रहस्य है। मुझे लीला और अभेद्य रहस्य मे कोई अन्तर नही दिखायी देता।

केशवचन्द्र हिन्दुत्व को घसीटकर ईसाइयत के पास ले गये थे, लेकिन, भारतीय जनता ने उनका अनादर नहीं किया। स्वामी दयानन्द प्रतिमा-पूजन के विरुद्ध थे, लेकिन, जनता तब भी उन्हें अपना आराध्य समझती थी और स्वामी विवेकानन्द ने गरजे समुद्र पार की यात्रा की थी और ईसाइयों के हाथ का कच्चा-पक्का भोजन भी ग्रहण किया था, किन्तु, आज वे हिन्दू धर्म के उद्धारक के रूप में पूजित हैं।

हम भारतवासी हीन भावना से पीड़ित हैं। चूंकि हम गरीब हैं, इसलिए हम समझने लगे हैं कि हमारा इतिहास भी खराब है, हमारी परम्परा और संस्कृति में भी कोई दम नहीं है। नहीं तो सच्ची बात तो यह है कि सारे संसार के प्रथम प्रतापी आधुनिक महापुरुष राजा राममोहन राय थे और भारत में उन्होंने जिस रैनेसा का प्रवर्तन किया, वह संसार के सभी सांस्कृतिक आंदोलनों से अधिक गंभीर, व्यापक और विशाल था।

जिस आधुनिकता का वरण भारत ने १६ वीं सदी में किया था, वह आधुनिकता अभी सन् १९५० तक हमारे साहित्य की मुख्य प्रेरणा रही थी। बंकिम चन्द्र और रवीन्द्रनाथ, भारतेन्दु और प्रेमचन्द, नान्हालाल और हरिनारायण आपटे, केशवसुत और सुब्रह्मण्यम भारती इसी आधुनिकता के चितेरे थे। तिलक जी ने कर्मयोगशास्त्र इसी की प्रेरणा से लिखा था। हाली और इकबाल उसी आधुनिकता के अवतार थे। छायावादी और छायावादोत्तर काव्य इसी आधुनिकता के नतीजे थे। इस आधुनिकता का ध्येय मनुष्य को बुद्धिवादी और उदार बनाना था, उसे प्रवृत्तिमार्गी और कर्मठ बनाना था। इस आधुनिकता के अधीन, साहित्य उद्देश्य को अपनाने में शरमाता नहीं था, न नबी और पैगम्बर बनने के काम को कवि अपने लिए हेय समझता था।

किन्तु, अब भारत में वह आधुनिकता प्रवेश कर ही है, जो साहित्य को शैली-प्रधान बनाना चाहती है, जो कवियों को यह समझाना चाहती है कि उनका काम मनुष्य का सुधार करना नहीं, उसे चौंकाना है, उसकी चेतना को झोंक और धक्के देना है। यह आधुनिकता यूरोप में उत्पन्न हुई और वहां के बहुत बड़े-बड़े लेखक और कवि उसकी लपेट में आ गये। यूरोप में इसकी उत्पत्ति के कारण थे। किन्तु, भारत में वे कारण मौजूद नहीं हैं। इसलिए समझा यह जाता है कि भारत के लेखक और कवि यूरोप का अनुकरण कर रहे हैं और वे जो भी कुछ लिखते हैं, वह ठीक-ठीक वास्तविक नहीं है।

पश्चिम से आनेवाले आधुनिक युग-बोध का जन्म समृद्धि के वातावरण में हुआ, युवकों के समृद्धि से वितृष्ण हो जाने के कारण हुआ है। किन्तु भारत में समृद्धि अभी है कहां? यह तो गरीबी, निरक्षरता, विषमता और घोर पाषण्ड का देश है। इंग्लैण्ड के युवक इसलिए नाराज हैं कि उनके बाप-दादों ने सारी समस्याओं को हल कर दिया। अब युवकों के करने लायक कोई आन्दोलन का काम

वहा है ही नही। किन्तु, भारत के नवयुवक यूरोप के युवकों की नकल कैसे कर सकते हैं? उनके सामने तो सघर्ष और युद्ध का पूरा क्षेत्र खुला हुआ है। वे निःसगता का बोध करें, यह अस्वाभाविक है। उनका क्रोध करना अधिक स्वाभाविक और कल्याणकर कार्य है। वे अपनी सारी भक्ति शब्दों को अर्पित करें, यह काफी नहीं है। भाग उन्हें संघर्ष में भी लेना होगा, राजनैतिक पाषण्ड के खिलाफ चलनेवाली लड़ाई मे भी लेना होगा और उन्हे वह बात भी बोलनी पड़ेगी, जिसे बोलने की तैयारी भारत दो सौ वर्षों से कर रहा है, जो बात बोली भी गयी है और जिसका दुहराया जाना भी आवश्यक है।

परंपरा और भारतीय साहित्य

यूरोप के एक लेखक ने लिखा है, "यूरोप नियम है, एशिया मन की तरंग है। यूरोप कर्तव्य है, एशिया मनोदशा है। यूरोप तथ्यात्मक और वस्तुपरक है, एशिया वैयक्तिक और आत्मनिष्ठ है। यूरोप आदमी है, एशिया बच्चा और बूढा आदमी है।"

लेखक ने अपनी बात को जरा बढ़ा-चढ़ा कर कहा है, मगर भारत उसकी उक्ति गलत नही है। मगर यह बात उस समय नही कही जा सकती थी, जब भारत ससार का ज्ञानगुरु और अग्रणी देश था तथा यूरोप बर्बरता की स्थिति से बहुत आगे नही बढ़ा था।

जातियाँ जिस प्रकार के विचारों मे विश्वास करती हैं, उनके कर्म भी वैसे ही हो जाते हैं, उनकी कलाएँ भी वैसी ही हो जाती हैं। वैदिक युग के आर्य निवृत्ति-वादी नही थे। दुनिया को वे केवल त्याग नही, भोग की भी वस्तु मानते थे। नरक की कल्पना उसके भीतर नही जगी थी। वे मानते थे कि पराक्रमी मनुष्य जैसे जीते जी सुख भोगता है, वैसे ही वह स्वर्ग पहुँच कर भी सुख ही भोगता है। "हे पितर, स्वर्ग मे इन्द्र के साथ विहार कीजिये।" "हे इन्द्र, हमारे घोडो को मजबूत करो, हमारे पुत्रो को बलवान् बनाओ।" ऐसी प्रार्थनाएँ वही कर सकता है, जो जीवन को सत्य तथा धरती को सुख और कर्म-कीर्ति का स्थान समझता है।

यद्यपि उपनिषद वेदो के बाद ही प्रकट होने लगे थे, किन्तु सस्कृत साहित्य पर प्रभाव वैदिक विचारधारा का ही चलता रहा, उपनिषद धीरे-धीरे ही काम करते रहे। जिस साहित्य के कारण सस्कृत भाषा का ससार मे इतना नाम है, वह सारा का सारा साहित्य वैदिक विचारधारा के अधीन लिखा गया था। उपनिषदो का प्रभाव सस्कृत के सर्वश्रेष्ठ काव्यो पर नही के समान है। उपनिषदो की निवृत्तिमार्गी शिक्षा उस समय बढी, जब देश मे जैन और बौद्ध दर्शनो का जोर हुआ। वैदिक दर्शन आशावाद, सुख-भोग और उत्साह का दर्शन था। किन्तु, हिन्दुओ का आज

का दर्शन निवृत्ति, अहिंसा, वैराग्य और पस्ती का दर्शन है। यह मेरे विचार से उपनिषदों एवं बौद्ध और जैन दर्शनों के दीर्घ सेवन का परिणाम है और इसका प्रभाव हम संस्कृत के श्रेष्ठ काव्यों में कम, प्राकृत, अपभ्रंश और भारत की आधुनिक भाषाओं में अधिक देखते हैं। फिर भी यह सच है कि भारत का जो मन आज आधुनिक बनने का प्रयत्न कर रहा है, वह इसी निवृत्तिमार्गी संस्कार में रँगा हुआ है।

एक विचित्रता और है कि संस्कृत साहित्य में हमें विद्रोह का स्वर कहीं भी सुनायी नहीं देता। गरीबी संस्कृत काल में भी रही होगी, अन्याय उस समय भी होते होंगे। जाति-प्रथा जितनी विषैली आज है, संस्कृत काल में उससे कहीं अधिक भयानक रही होगी। जो शूद्र वेद सुन ले, उसके कानों में पिघला हुआ राँगा पिला दो, यह धर्म उसी युग का आविष्कार था। किन्तु संस्कृत में कोई भी कवि ऐसा नहीं जनमा, जो यह कहने की हिम्मत करे कि यह अन्याय है और मैं इसका विरोध करूँगा। जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद के सिद्धान्त इस जोर से स्वीकृत किये जा चुके थे कि हर चिन्तक यह सोचकर संतुष्ट था कि जहाँ भी जो कुछ हो रहा है, वह सब-का-सब ठीक है और विश्वविधान की आलोचना वही करेगा, जिसमें आस्तिकता की कोई गन्ध नहीं हो।

यहाँ भी यह ध्यान देने की बात है कि वैदिक युग के आर्य इतने अमर्षहीन नहीं थे, न उनकी स्वाधीन चिन्ता इतनी दबी हुई थी। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में ऋषि ने प्रश्न उठाया है कि जब कुछ नहीं था, तब क्या था और सृष्टि उस शून्य में से कैसे प्रकट हुई और सृष्टि जब शून्य में से निकल रही थी, तब उसे किसने देखा था। और ऋषि ने स्वयं ही उत्तर दिया है कि इस सृष्टि का जो *अध्यक्ष परम व्योम* में रहता है, शायद उसने सृष्टि को जन्म लेते देखा हो अथवा क्या पता कि उसने भी नहीं देखा हो। एक आस्तिक ऋषि की यह शंका बतलाती है कि आर्य सत्य की शोध में बड़े ही निर्मोही और कठोर थे तथा श्रद्धा उनके चिंतन को कमजोर नहीं कर सकती थी।

संस्कृत साहित्य में विद्रोह की परंपरा नहीं थी। भारत में विद्रोह के पहले बीज गौतम बुद्ध ने गिराये और वे अंकुरित चाहे जब भी हुए हों, पल्लवित और पुष्पित वे तब हुए, जब सिद्ध-साधुओं का समय आया। हिन्दी में इस विद्रोह की आग कबीर की वाणी में फूटी थी और वह आग अभी तक बुझी नहीं है। असल में भारतीय संस्कृति की दो धाराएं हैं, जो प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं। एक के ऋषि मनु और वशिष्ठ, दार्शनिक शंकराचार्य और कवि तुलसीदास, सूरदास, विद्यापति, कम्बन और पोतन्ना हैं। दूसरी धारा के ऋषि स्वयं गौतम बुद्ध, दार्शनिक नागार्जुन और वसुबन्धु, तथा कवि सिद्ध-साधु, कबीर, दादूदयाल, नानकदेव और वेमना हैं। आधुनिक युग में पहली धारा के प्रतीक महामना पंडित मदनमोहन जी मालवीय

हुए हैं और दूसरी धारा के स्वय गाधी जी। ज्यो-ज्यो समय बीतता जाता है, इन दो धाराओ के बीच की दूरी घटती जाती है। लेकिन दिखायी यह भी पड़ता है कि धर्म के क्षेत्र मे हिन्दू समाज तुलसीदास से हटकर कबीरदास के समीप होता जा रहा है। तुलसीदास का जितना जोर भक्ति पर था, उतना ही जोर व्रतो, अनुष्ठानो और धर्म के बाह्य आचारो पर भी था। किन्तु, कबीरदास ने अनुष्ठानो को ढकोसला कहा। नये जमाने के धर्मानुरागियो की दृष्टि मे भी अनुष्ठानो का कोई खास महत्त्व नही है।

साहित्य का स्वभाव है कि वह पुरानी बातो मे कवित्व जरा अधिक देखता है। अतएव पुरानी परपराएँ आज भी साहित्य का विषय बन जाती हैं, किन्तु, नवयुग का कवि उन्हे नयी दृष्टि से देखता है और शिक्षा भी वह उनसे नयी ही निकालता है। सत्यकाम जाबाला की कथा पुराणो मे यह दिखाने को गढी गयी होगी कि सत्य बोलने वाले के गोत्र के बारे मे जिज्ञासा बेकार है। किन्तु अब हम उससे यह शिक्षा लेते है कि अनब्याही नारी की सतान भी सम्मान का आसन पा सकती है।

पहले धर्म और कविता के बीच प्रगाढ सबध था। अब वह सबध विरल भी नही रहा, बिलकुल टूट गया है। पहले के कवि कहते थे कि, "रसिक रीझेंगे तो समझूँगा कि मैंने कविता लिखी है। यदि रसिक नही रीझे, तो यह काव्य राधा और श्याम के नाम स्मरण का बहाना है।" आज धार्मिक कथा और चरित्र को भी कवि इसलिए नही उठाता कि उसे भगवान का स्मरण करना है, बल्कि इसलिए कि वह अपने सौन्दर्यबोध को अभिव्यक्त करना चाहता है। साहित्य मे बहुत दिनो तक यह परिपाटी रही कि कविगण अपने काव्य का आरम्भ देवता की स्तुति से करते थे। लेकिन अब यह परिपाटी समाप्त हो गयी। हिन्दी मे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त इस परिपाटी के अन्तिम उदाहरण थे। अब कोई भी कवि अपने ग्रन्थ का आरम्भ देव-स्तुति से नही करता।

एक और विचित्रता घटित हुई है, जिसका उल्लेख प्रासगिक लगता है। जब हम लोग काव्य के क्षेत्र मे आये थे, कवियो मे पिंगल पढने का रिवाज था। एक कहावत चलती थी कि—

बिना कोक जो रति करै, बिन गीता भख ज्ञान,
बिन पिंगल कविता रचै, तीनों पशु समान।

लेकिन मेरा ख्याल है, अब पिंगल कोई नही पढता, न कोई प्रस्तार साधता है। जब छन्द ही रुखसत हो गये, तब फिर पिंगल की जरूरत क्या है?

पिंगल सीखते समय हमने यह भी शिक्षा ली थी कि ग्रन्थ के आदि छन्द का प्रथम गण शुभ ही रखना चाहिए, अशुभ नही। तुलसीदास जी ने रामचरितमानस का आरम्भ 'वर्णाना' से किया है, जो मगण पडता है। हम लोग भी आदि गण

मगण, भगण या नगण रखते थे। किन्तु, अब गणों का विचार भी खत्म है, न कोई कवि दग्धाक्षरों से डरता है।

पहले जब राम या कृष्ण के चरित्र लिखे जाते थे, तब उन्हें धर्मसंस्थापक और दुष्कृत-विनाशक ईश्वरावतार के रूप में चित्रित किया जाता था। यह बुद्धिवाद का प्रभाव है कि अब वे समाज-सुधारक, लोक-आराधक अथवा संशयग्रस्त मनुष्य के रूप में दिखाये जाते हैं। साधुओं और संन्यासियों के चरित्र भी पहले उच्चकोटि के दिखाये जाते थे। केवल प्रबोध-चन्द्रोदय में उन्हें व्यभिचारी के रूप में चित्रित किया गया था। लेकिन, यह अपवाद था। किन्तु थाय और चित्रलेखा में काम के समक्ष संन्यास की पराजय का जो दृश्य अंकित हुआ है, उसे नये जमाने ने खूब पसन्द किया है।

पुरानी कविता में शयन-कक्ष में मणियों के दीप बलते थे और नायिकाओं को जब संकोच होता था, तब वे मुट्ठी भर पुष्परेणु फेंककर दीपक की ज्योति को छिपा देती थीं। अब नायिकाओं को संकोच कम होता है और संकोच हो भी, तो बिजली का बटन दबा देना लज्जा से बचने का सुगम उपाय है। जैसे विज्ञान ने जीवन में खोज-खोजकर उन सभी रहस्यों को रहस्यहीन कर दिया, जिन्हें लेकर पहले लोग आश्चर्य करते थे, वैसे ही साहित्य के बहुत-से रहस्य-कुंज विज्ञान के प्रभाव से उजाड़ हो गये। अब उनका आश्रय लेकर कविताएँ नहीं लिखी जा सकती।

सबसे बड़ा परिवर्तन यह है कि ईश्वर के प्रति हमारी आस्था का रूप बदल गया है। पहले आदमी यह सोचकर विश्वास करता था कि विश्वास के सहारे ही वह सत्य को जान सकेगा। अब वह पहले जानना चाहता है और विश्वास वह तभी करेगा, जब सत्य का उसे ज्ञान हो जायेगा। पहले श्रद्धा की चट्टान को तोड़ने के पहले ही बुद्धि टूट जाती थी। किन्तु श्रद्धा अब बर्फ की चट्टान है और बुद्धि ज्यादा पैनी हो गयी है। बुद्धि के आगे अब श्रद्धा का ठहरना दुश्वार है। तब भी यह सच है कि हिन्दुत्व के सभी सर्वश्रेष्ठ विश्वास बुद्धि के परे हैं, वे बुद्धि के विरुद्ध नहीं हैं।

पुरानी परंपराओं के टूटने के बाद जो नयी परंपराएँ कायम हुई हैं, उनमें से सबसे प्रमुख परंपरा यह है कि स्वतंत्रता किसी नियम को नहीं जानती और इसीलिए उसे किसी भी पाप का ज्ञान नहीं है। सृष्टि एक आशयविहीन रचना है, जिसका नियता कोई नहीं है। आदमी ही ईश्वर है और हर भले आदमी का रक्त उतना ही पवित्र है, जितना पवित्र रक्त राम, कृष्ण या ईसा का था। और सबसे बड़ी बात यह है कि नैतिकता वह है, जिसका आचरण मनुष्य करने को राजी हो सके।

आधुनिकता का वरण

भारत मे आधुनिकता का प्रवेश उन्नीसवी सदी में हुआ था और उसके व्याख्याता राममोहन राय, केशवचन्द्र, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि भारतीय थे। उस समय आधुनिकता बडे वेग से आयी थी, किन्तु दो कारणो से उसका प्रवाह बहुत मन्द हो गया। एक तो इसलिए कि उसके प्रतीक अग्रेज अफसर और ईसाई धर्म-प्रचारक थे, जिनसे जनता को चिढ थी। दूसरे, कलकत्ते के हिन्दू युवको ने आधुनिकता के नाम पर चारित्रिक उच्छृ खलता का ऐसा भयानक परिचय देना शुरू किया कि समाज आधुनिकता को घोर सन्देह से देखने लगा।

स्वतन्त्रता के बाद से आधुनिकता की गति फिर से कुछ तेज हो गयी है और इसका प्रचार इस बार अग्रेज नही, सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रो के भारतीय लोग ही कर रहे हैं। मगर, इस बार भी जनता का एक भाग—शायद बडा भाग—कुछ चौंका हुआ है। इन भारतीयो को चिन्ता लगी हुई है कि भारत यदि आधुनिक हो गया, तो भारत की प्राचीन सस्कृति विनष्ट हो जायेगी।

ऐसे भारतीयो से मैं पूछना चाहता हूँ कि आप अपनी सस्कृति के किन तत्त्वो की रक्षा करना चाहते है?

भारतीय समाज मुक्त नही, बन्द समाज है। यहाँ के लोग विदेशियो और विधर्मियों से घुलना-मिलना नही चाहते, न उन्हें अपने साथ घुलने-मिलने का अवसर देना चाहते है। अपने इसी भाव की रक्षा के लिए हिन्दुओ ने समुद्र यात्रा को पाप मान लिया था। क्या हम यह चाहते हैं कि विदेशियो और विधर्मियो से घुलना-मिलना अब भी पाप समझा जाय?

जब भारतीय समाज मुक्त समाज था, यहाँ काय-चिकित्सा के साथ-साथ शल्य-चिकित्सा का भी विकास हुआ था। सुश्रुत-सहिता शल्य-चिकित्सा का ही ग्रन्थ है। उसमे अश्मरी, अर्श, उदर रोग और मूढ गर्भ तक के आपरेशन की विधियां

लिखी हुई हैं और शवच्छेद तक की क्रिया का विधान है। शल्य-यन्त्र उसमें एक सौ के लगभग गिनाये गये हैं। किन्तु जब भारतीय समाज का पतन होने लगा, इस देश के वैद्य घाव, रक्त और पीब को छूने से घृणा करने लगे, मूत्र और पुरीष की जाँच की विद्या भूल गये और शल्य-चिकित्सा का भारत मे पतन हो गया। वस्तिकर्म का आयुर्वेद मे बहुत ही ऊँचा स्थान था। किन्तु, शाहआलम को जब एक फिरंगी डाक्टर ने एनीमा भेजा, तो उसके प्रयोग की विधि दरबार के किसी भी हकीम या वैद्य को मालूम नहीं थी। इसी प्रकार गोआ के एक गवर्नर को जब फिश्चुला हुआ, तब उसका इलाज एक डच डाक्टर ने किया था। ये बातें भारत में इसलिए हुई कि यहाँ के लोग नकली पवित्रता के मोह मे इस कदर गिरफ्तार हो गये कि उन्होने अपने आयुर्वेद विज्ञान को नष्ट कर डाला। भारत मे आयुर्वेद का ह्रास इसलिए हुआ, चूंकि भारतीय समाज धर्म का अर्थ नकली पवित्रता समझने लगा था। अब एलोपैथ डाक्टरों की वैचारिक उदारता देखकर वैद्यों को सबक लेना चाहिए कि मल, मूत्र और पीब का स्पर्श करने से धर्म का नाश नही होता है।

बन्द समाज का एक लक्षण यह भी है कि वह अपने सदस्यो को भी उन्नति की दीर्घा में ऊँचा उठने की खुली छूट नही देता है। बन्द समाज के इस अत्याचार को शूद्रों, हरिजनों और नारियों ने शताब्दियो से झेला है। क्या हम यह चाहते हैं कि इन अत्याचार-पीड़ित लोगो को द्विजो के साथ समता अब भी न दी जाय ?

आधुनिकता के साथ वह कौन-सा दोष लगा है, जिससे संस्कृतिवादी लोग भड़कते हैं ? साक्षरता का निस्सीम प्रसार आधुनिकता है। प्रति मुंड आय की वृद्धि आधुनिकता है। कल-कारखानों का विकास आधुनिकता का लक्षण है। आधुनिकता बेरोजगारी को बर्दाश्त नही करने का नाम है। बाप-दादे की कमाई पर बेटा मौज करे, यह मध्यकालीन रिवाज है। आधुनिक समाज में हर आदमी अपनी रोजी आप कमाता है। यहाँ तक कि औरतें भी घर से बाहर निकलकर काम करती हैं। ज्योतिषी से पूछकर हर काम करना मध्यकालीन संस्कार है। भारत के मध्यकालीन राजे पलटन के साथ-साथ ज्योतिषियो और तांत्रिको की भी फौज रखते थे। आधुनिक मनुष्य अपनी बुद्धि मे विश्वास करता है, अपने बाहुबल का सहारा रखता है।

इनमें से कौन-सी बातें हैं, जो अग्राह्य हैं अथवा जिन्हें स्वीकार करने से भारत की प्राचीन संस्कृति नष्ट हो जायगी ? और धर्म की मिथ्या भावना यानी रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास अगर भारत की उन्नति के पथ में रोड़े अटकाते हैं, तो करना क्या चाहिए ? हम पुरोहितो, तांत्रिको और ज्योतिषियो के पाँव पकड़े बैठे रहें अथवा अन्धविश्वास को छोड़कर उन्नति की राह पकड़ें ?

मुझे आधुनिकता के किसी भी उपकरण की स्वीकृति मे धर्म या संस्कृति की बाधा कहीं भी नहीं दीखती। औद्योगीकरण के क्रम में धर्म और संस्कृति की बाधाएँ

जहाँ हों, वहाँ धर्म और संस्कृति को ही नया रूप लेना होगा। जो लोग धर्म की रक्षा के लिए समुद्र के पार नहीं जाते थे, जो लोग छुआछूत के भय से देश के भीतर भी रेल की यात्रा भूखे-प्यासे रहकर करते थे अथवा जो लोग हर जगह अपने साथ ब्राह्मण रसोइये लिये चलते थे, उनकी सभ्यता खत्म हो चुकी। अब नयी सभ्यता के भीतर उन्हें जीने का भी अधिकार नहीं है। अथवा अगर है, तो जिन लोगों के भगवान भात की हाँडी में बसते हैं, वे हाँडी लिये अपने घरों में बैठे रहेंगे।

जब उद्योग फैलते हैं, नगरों की प्रधानता में वृद्धि होती है और अनेक देशों, अनेक धर्मों और अनेक संस्कृतियों के लोग परस्पर मिलने लगते हैं या नगरों, मुहल्लों या आसपास के फ्लैटों में साथ रहने लगते हैं, तब उनका प्रभाव मनुष्यों के नैतिक रिवाजों और आचारों पर भी पड़ता है। धर्म वह है, जो इस मानव-मिलन से उत्पन्न नवीन स्थितियों को अपने भीतर पचा सके। जो धर्म अब भी घोंघे के समान सिकुड़कर, अपने भीतर समाकर अपनी रक्षा करना चाहता है, वह धर्म बचने वाला नहीं है, न उसे बचाया जाना उचित है।

आधुनिकता पर भारत को उतनी ही शंका करने का अधिकार है, जितनी शंका उसपर अन्य देशों के आस्तिक लोग करते हैं। वैसे आस्तिक वह है, जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है। किन्तु, भारत में व्यापक रूप से वे सभी आस्तिक माने जाते हैं, जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करें या ना करें, किन्तु जो लोग आत्मा के अस्तित्व और जन्मान्तरवाद में विश्वास करते हैं। इस दृष्टि से भारत में नास्तिक केवल चार्वाक-पंथी लोग थे।

मूल प्रश्न यह है कि सृष्टि-विषयक हमारा दृष्टिबोध क्या है? क्या हम यह मानते हैं कि वास्तविकता उतनी ही दूर तक है, जितनी दूर तक का अनुभव हमें इन्द्रियों से प्राप्त होता है अथवा जितनी दूर तक विज्ञान की छड़ी पहुँच सकती है? अथवा वह विज्ञान से आगे भी पहुँचती है? हमारा जीवन मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता है या मृत्यु के बाद भी जीवन की कड़ी कायम रहती है? केवल लोक ही सत्य है अथवा लोक और परलोक, दोनों सत्य हैं?

समाज में जो लोग आज यह मानकर आचरण कर रहे हैं कि पुलिस से छिप कर जो कुछ भी किया जाता है, वह पाप नहीं होता, वे सभी लोग परले दरजे के नास्तिक हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में केवल लोक सत्य है, परलोक झूठा है। आदमी जब यह मानकर चलता है कि जिन्दगी मृत्यु के साथ खत्म नहीं होती, वह मृत्यु के बाद भी कायम रहती है, तब उसके आचरण कुछ और प्रकार के होते हैं। सच्चे परलोकवादियों की जिस समाज में अधिकता होगी, उस समाज में पुलिस की जरूरत कम पड़ेगी और चूँकि आदमी आदमी को हर जायज अधिकार खुद दे दिया करेगा, इसलिए उस समाज में जजों और मैजिस्ट्रेटों की तादाद भी थोड़ी ही रहेगी। अच्छा समाज वह है, जिसमें कानून कम होते हैं और कानून मनवाने वाली

फौज भी छोटी होती है।

भारत जिन मूल्यो के लिए लड रहा है, वे मूल्य केवल भारत के नही, सारे ससार के है। हम आधुनिकता की ताकत और प्राचीनता के संतोष-भाव को मिलाना चाहते हैं। विज्ञान के बल से ससार के उन्नतिशील देश और भी अधिक शक्तिशाली होते जा रहे हैं, किन्तु, ज्यो-ज्यों उनकी सपदा और शक्ति बढती जाती है, उनके सन्तोष और शान्ति का ह्रास होता जाता है। हमे भारत मे वह मार्ग निकालना है, जिससे विज्ञान को अपनाकर भी हम उसके दास न बन जायें। हमारी सम्पदा और शक्ति अवश्य बढ़े, लेकिन, हम रुपये के पीछे पागल न हो जायें।

राममोहन राय से लेकर महात्मा गाँधी तक भारत के जो भी महान् विचारक हुए हैं, उनकी कल्पना यह थी कि भारत को अपनी सस्कृति के सर्वश्रेष्ठ अंश को भी बचाना है और पाश्चात्य सस्कृति के भी सर्वोत्तम भाग को स्वीकार करना है। भारत की विशेषता अध्यात्म और पाश्चात्य जगत् की विशेषता विज्ञान है। हम इन्ही दो तत्त्वों का समन्वय करना चाहते हैं।

एक हाथ में कमल, एक में धर्मदीप्त विज्ञान,
लेकर उठनेवाला है धरती पर हिन्दुस्तान।

कविता में परिवेश और मूल्य

परिवेश वह वातावरण है, जिसमें साहित्य लिखा जाता है और मूल्य वे नैतिक मान्यताएँ है, साहित्य जिनका समर्थन या विरोध करता है। परिवेश एक तरह से काल का वह अश है, जो समकालीन अथवा वर्त्तमान है। मूल्य समकालीन भी हो सकते है, किन्तु साधारणत वे पुराने ही होते है। परिवेश से तात्कालिकता की गध आती है। मूल्य तात्कालिक नही, दीर्घायु होते है। परिवेश के दायरे मे केवल झोंपडी और महल, खेती और कारखाने, दुर्भिक्ष और युद्ध, विलासिता और वैराग्य, मन्दिर और रेडियो ही नही होते, उसके दायरे मे समकालीन भावनाएँ और विचार भी होते हैं। अतएव साहित्य मे परिवेश का प्रश्न, असल मे, परम्परा और समकालीनता का प्रश्न बन जाता है।

और मूल्य आचरण के सिद्धान्तो को कहते है। मूल्य वे मान्यताएँ हैं, जिन्हे मार्ग-दर्शक ज्योति मानकर सभ्यता चलती रही है और जिनकी उपेक्षा करने वालो को परम्परा अनैतिक, उच्छृ खल या बागी कहती है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पुराने मूल्यो की प्रतिष्ठा करने वाले व्यक्ति भगवान बन जाते हैं। अतएव साहित्य मे मूल्यो का विवेचन, असल मे, नैतिकता और परम्परा का विवेचन बन जाता है।

प्राचीन आलोचनाओ मे आलोचक न तो यह देखता था कि कवि ने अपने काल का प्रतिनिधित्व किया है या नही, न उसे यही चिन्ता होती थी कि कवि ने अपनी कृति मे परम्परा का कहाँ तक पालन और कहाँ तक उसका अतिक्रमण किया है। भारत मे तो जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद का साम्राज्य था। अतएव कवि प्रायः यही मानकर चलते थे कि सुख और दु.ख पूर्वकृत कर्मों के फल है। इसलिए जो सुखी है, वह ठीक है और जो दु खी है, वह भी ठीक है। दोनो अपने-अपने पूर्वकृत कर्मों के फल भोग रहे हैं। भारतीय समाज मे अन्याय का अभाव नही था। शूद्र और स्त्रियो के लिए वेद विवर्जित थे। अन्त्यजो के स्पर्श से भी पाप चढता था। किन्तु,

संस्कृत के महाकवियों में से एक भी ऐसा नहीं हुआ, जो यह कहने का साहस करे कि यह अन्याय है और मैं इसका विरोध करता हूँ।

तब भी संस्कृत के ये कवि महान् हैं, क्योंकि जो कुछ उन्होंने लिखा है, पूरी कलाकारिता के साथ लिखा है। कवित्व पौधा है, परिवेश और मूल्य ऋतुओं के समान है। विशेष प्रकार के परिवेश और मूल्यों के अधीन भी लिखा गया साहित्य सभी परिवेशों, सभी मूल्यों का स्पर्श करता है। कोई भी कलाकार वास्तविकता को पूरी तरह बर्दाश्त नहीं करता। इसी प्रकार वास्तविकता की सर्वथा उपेक्षा किसी भी कलाकार के लिए संभव नहीं है। कला काल से जन्म लेकर काल का अतिक्रमण करती है। अजन्ता के चित्र आज से भिन्न परिवेश में रचे गये थे। भुवनेश्वर की मूर्तियाँ आज से अलग वातावरण में गढ़ी गयी थीं। मगर वे आज भी सुन्दर हैं। और उनके सौंदर्य के बारे में आज भी सभी प्रकार के लोगों के बीच आश्चर्यजनक एकता है। सौंदर्य-बोध मूल्य है और कला के प्रसंग में मूल्य काल से बड़ा दिखायी देता है।

मगर यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है कि मूल्य हमेशा काल से बड़ा ही होता है। असल में मूल्य भी काल का ही अंग है और जब काल का प्रभाव पड़ने लगता है, तब साहित्य पर उस युग के मूल्य का प्रभाव भी साथ-साथ पड़ता है।

साहित्य में काल की महिमा की घोषणा मार्क्स ने की थी। लेकिन मार्क्स ने जो नियम निकाला, वह प्राचीन साहित्य पर भी लागू होता है। प्रत्येक काल अपने कवि की प्रतीक्षा करता है, क्योंकि काल के हृदय में दर्द और बेचैनी की जो रागिनी बजती है, वह औसत लोगों को सुनायी नहीं देती, केवल कवि ही उसे सुन सकता है। काल अपने कवि की प्रतीक्षा केवल इसलिए करता है कि कवि उसकी मूक-से-मूक भावनाओं को भी अभिव्यक्ति दे देता है। वैज्ञानिक, दार्शनिक और समाजशास्त्री काल की जिस गुह्य भावना को नहीं समझ सकते, उसी भावना को अभिव्यक्ति देने के कारण कवि अपने युग का प्रतिनिधि समझा जाता है। युग-कवि के आगमन के साथ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि काल विशेष की अनुभूतियों में कौन से विकार अथवा परिवर्तन उत्पन्न हुए हैं।

राम-कथा एक ऐसा विषय है, जिस पर वाल्मीकि के समय से लेकर आज तक के कवि कुछ-न-कुछ लिखते ही रहे हैं। किन्तु त्रेता युग से लेकर आज तक राम-कथा पर जो कुछ लिखा गया, वह एक ही मूल्य के अधीन नहीं है।

उदाहरण के लिए हम शम्बूक-वध की कथा को ले सकते हैं। वाल्मीकि ने लिखा है कि शम्बूक शूद्र होने के कारण तपस्या का अधिकारी नहीं था। अतएव जब वह तपस्या करने लगा, तब उसके पाप से एक ब्राह्मण के बेटे की मृत्यु हो गयी। ब्राह्मण ने राम से जाकर कहा कि मैंने कोई पाप नहीं किया है, अतएव, पापी तुम हो अथवा तुम्हारे राज्य में कोई पाप कर रहा है, जिसके फलस्वरूप मेरे बेटे

की मृत्यु हो गयी है। वशिष्ठ ने राम को समझाया कि ब्राह्मण के बेटे की मृत्यु किसी शूद्र तपस्वी की तपस्या के कारण हुई है। अतएव ब्राह्मण का बेटा तब जियेगा, जब उस शूद्र मुनि का वध कर दिया जाये। वाल्मीकि ने यह भी लिखा है कि राम ने वन में जाकर शम्बूक का वध कर दिया और उसके फलस्वरूप ब्राह्मण का बेटा जी उठा। वाल्मीकि की दृष्टि में राम ने जो कुछ किया, वह धर्म का ऊँचा दृष्टान्त था। इसीलिए, जब शम्बूक मरा, देवताओं ने आकाश से पुष्पों की वर्षा की।

लेकिन यही कथा जब सातवीं सदी में भवभूति लिखने लगे, तब उनके मन में राम के इस कृत्य को लेकर शंका उत्पन्न हो गयी, क्योंकि वाल्मीकि के समय का परिवेश और मूल्य भवभूति के समय के परिवेश और मूल्य से भिन्न था। वाल्मीकि ने जो कुछ लिखा था, वह यह मान कर लिखा था कि वर्णाश्रम-धर्म सोलह आने ठीक है और उसकी अवहेलना करने वाले को दण्ड मिलना ही चाहिए। किन्तु वाल्मीकि के बहुत बाद भारत में महात्मा गौतम बुद्ध का जन्म हुआ और महात्मा बुद्ध ने समाज में ऐसी क्रान्ति फैलायी कि सब लोगों के हृदय में वर्णाश्रम-धर्म के अनेक पक्षों को लेकर शंका उत्पन्न हो गयी। यह परिवेश का परिवर्त्तन था, मूल्यों की क्रांति थी, जिसका प्रभाव साहित्य पर आगे चल कर पड़ा।

बुद्ध को यदि हम लेखक मान लें, तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लेखक हर समय स्थापित धर्म और समाज का अनुगमन ही नहीं करता, उसके खिलाफ विद्रोह भी करता है। बागी को समाज में अक्सर नास्तिक समझने का रिवाज रहा है। मगर, बागी इन्कार कम, अवज्ञा अधिक करता है। विद्रोह की भावना न रही, तो रचनाओं की ताजगी खत्म हो जाती है और साहित्य एकरस तथा गतानुगतिक हो जाता है।

राम के चरित्र के विषय में हम जो शंकाएँ आज कर सकते हैं, वे ही शंकाएँ भवभूति के हृदय में उत्पन्न हुई थीं। अतएव उन्होंने राम के मुख से ही राम की निंदा करवा दी। "उत्तररामचरित" में जब राम समाधि में बैठे हुए शूद्र मुनि शम्बूक का वध करने को जाते हैं, तब राम का हाथ ही नहीं उठता है। अतएव वे अपने हाथ को संबोधित करके कहते हैं :

"रे हस्त दक्षिण, मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
रामस्य गात्रमसि निर्भरगर्भखिन्न
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते?"

अर्थात् ओ मेरे दाहिने हाथ, ब्राह्मण के मरे हुए बेटे को जिलाने के लिए शूद्र मुनि के ऊपर कृपाण उठा। तू तो उस राम का अंग है, जिसने निष्कलंक और कठोरगर्भा सीता का परित्याग किया है। तुझ में करुणा कहाँ से आ गयी?

वाल्मीकि से भवभूति किस बात को लेकर भिन्न हैं ? स्पष्ट ही, जो मूल्य वाल्मीकि के समय प्रचलित थे, वे मूल्य भवभूति के समय प्रचलित नही थे। काल ने झकझोर कर समाज के श्रेष्ठ चिंतको मे एक प्रकार की उदारता और न्यायबुद्धि उत्पन्न कर दी थी। अतएव भवभूति के लिए यह असभव हो गया कि वे शम्बूक-वध और सीता-परित्याग का समर्थन कर सकें अथवा राम के इन दो कठोर कृत्यों के विरुद्ध उनके मन मे जो आक्रोश था, उसे दबा कर चुप रह जायें। मूल्य-परिवर्तन काल-परिवर्तन का ही दूसरा नाम है और इसी परिवर्तन का प्रभाव साहित्यकारों पर स्वाभाविक रूप से पड़ता है।

भवभूति के विषय मे कहा जा सकता है कि वे संस्कृत कवियों मे सबसे आधुनिक थे। अर्थात् आधुनिकता की जो प्रवृत्ति साहित्य में अब जोर पकड़ रही है, उसका कुछ क्षीण आभास हम भवभूति मे स्पष्ट रूप से देखते हैं। रोमांटिक कवियों मे शैली ने सबसे पहले अपने पाठको से असंतोष प्रकट किया था और यह कहा था कि हमे ऐसे पाठक चाहिए, जो कविता के विषय से अधिक उसकी शैली को महत्वपूर्ण मानते हों। भवभूति ने जो यह कहा कि :

"उत्पत्स्यते च मम कोऽपि समानधर्मा
कालोह्यर्यं निरवधिः विपुला च पृथ्वी।"

उस श्लोकार्ध के पीछे कवि की कौन-सी भावना थी ? क्या वे भी शैली की तरह ऐसे पाठकों की खोज मे थे, जो विषय की अपेक्षा शैली की महिमा को अधिक मानते हो ? अथवा मूल्यों के बारे मे उनकी जो आस्था थी, वे उस आस्था का समर्थन चाहते थे ? उत्तर बहुत सफाई के साथ नही दिया जा सकता है। किन्तु यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लेखक जब मूल्यों के प्रति विद्रोह करता है, तब भी उसे नये पाठको की आवश्यकता अनुभूत होती है।

गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण, वैसे तो, परम्परा का पालन करती हुई दिखायी देती है, किन्तु काल और परिवेश का प्रभाव इस रामायण पर भी है। गोस्वामी जी पण्डित और कालज्ञ कवि थे। अतएव उन्होंने रामायण का वह अश लिखा ही नही, जिसमें शम्बूक-वध और सीता-वनवास की कथा आती है। मेरा अनुमान है कि तुलसीदास जी ने इन कथाओ को इसलिए छोड़ दिया कि शम्बूक के वधिक और सीता का त्याग करने वाले राम तुलसी के युग को सर्वतोभावेन ग्राह्य नहीं हो सकते थे। यह नकारात्मक प्रमाण है। स्वीकारात्मक प्रमाण यह है कि तुलसीदास वालि-वध को भी कदाचित् राम का चिंत्य कृत्य मानते थे। वालि को मारने के समय राम और वालि के बीच जो सवाद होता है, उसमे वालि के एक प्रश्न का उत्तर राम दे देते हैं। किन्तु, वालि जब दूसरा प्रश्न करता है कि :

"धरम हेतु अवतरेउ गुसाईं
मारेउ मोहि व्याध की नाईं।"

तब राम से उसका कोई उत्तर नही चलता और प्रच्छन्न पश्चाताप के स्वर मे वे कह उठते हैं—

"अचल करौं तनु, राखहु प्राना।"

यहाँ तुलसीदास जी ने अपनी ईमानदारी का निर्वाह बडी कठिनाई, बल्कि लगभग कठोरता के साथ किया है। किन्तु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि काल का अतिक्रमण करने वाले कवि पर भी अपने समय का प्रभाव पड़े बिना नही रहता।

एक रामायण खडी बोली मे भी है, जिसका नाम साकेत है और जिसकी रचना स्वर्गीय श्री मैथिलीशरण गुप्त ने की थी। मैथिलीशरण जी, जाहिरा तौर पर, परम्परावादी कवि थे और अपने को वाल्मीकि और तुलसीदास से भली-भाँति बाँध कर रखना चाहते थे। किन्तु जिस युग मे वे साकेत की रचना कर रहे थे, उसने उन्हे तुलसीदास से कुछ अलग कर दिया। मैथिलीशरण सनातनधर्मी कवि थे, किंतु उनके राम स्वामी दयानन्द से प्रभावित दीखते है। जिन दिनो मैथिलीशरण साकेत की रचना मे लगे थे, उन दिनो उत्तरी भारत का आकाश ऋषि दयानन्द के नारे से गूँज रहा था। उन नारो मे से एक नारा "कृण्वतो विश्वमार्यम्" भी था। साकेत के राम जब यह कहते हैं कि ·

"उच्चारित होती चले वेद की वाणी,
गूँजे गिरि, गह्वर, सिंधु पार कल्याणी।"

तब हमे आर्य-समाज के उसी नारे की याद हो आती है। मूल्य-परिवर्त्तन और काल-परिवर्त्तन से साहित्य कैसे परिवर्तित होता है, साकेत मे इसका एक प्रमाण और है। गीता मे कहा गया है कि भगवान का अवतार धर्म की स्थापना और अधर्म के नाश के लिए होता है। किन्तु साकेत के राम ऐसा कोई भी दावा नही करते। वे स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द के प्रवृत्ति-मार्गी दर्शन से प्रभावित दीखते हैं। उन पर यूरोप से आने वाली इस विचारधारा का भी प्रभाव है कि परलोक की आराधना मे लोक की उपेक्षा नही की जानी चाहिए।

"सदेश स्वर्ग का नहीं भूमि पर लाया,
मैं भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

साहित्य की प्रगति जीवन की प्रगति से भिन्न नही होती। चूँकि जीवन बदलता है, इसलिए साहित्य भी बदल जाता है। कुछ शुद्धतावादी लेखको का मत है कि साहित्य परिवेश और मूल्य, दोनो से ऊपर उठ सकता है, दोनो से तटस्थ रह सकता है। किन्तु इसे हम अपवाद ही कहेंगे और इसमें कोई सदेह नही कि अपवाद कभी-कभी नियमो से भी अधिक जीवित और सुरम्य होते हैं। किन्तु साधारण नियम यही है कि परिवेश साहित्य को प्रभावित करता है, उसके मार्ग मे अवरोध भी डालता है। स्वामी दयानन्द के उपदेशो के कारण उत्तर भारत मे जो पवित्रता-

वादी संस्कार फैला, यह उसी का प्रभाव था कि द्विवेदीयुगीन हिन्दी कविता नीरस और खुलकर सोद्देश्य हो गयी। यूरोप में जब रिफारमेशन का दौरदौरा हुआ, कला में नैतिकता की वृद्धि हुई, किन्तु सौंदर्य कला से बहिष्कृत हो गया। इसी तरह बौद्ध और जैन मतों से प्रभावित साहित्य में भी हम सौंदर्य के बदले पुण्य का ही प्राचुर्य पाते हैं।

परिवेश और मूल्य से ऊपर उठने की आधुनिक प्रवृत्ति भी काल का ही परिणाम है। जब समाज में मूल्य का बोलबाला था, आदमी निःसंग नहीं था। निर्णय लेते समय वह मन-ही-मन मूल्यों से राय-मशविरा कर लेता था। किन्तु, अब ज्ञान इतना बढ़ गया है कि आदमी हर चीज को शंका से देखने लगा है। यहाँ तक कि वह अब इस सवाल पर भी गंभीरता से विचार करने लगा है कि जीवन जीने के योग्य है या नहीं। असली बात यह है कि आदमी ने मूल्यों को विघटित मान लिया, मगर दायित्व उस पर अब भी सवार है, निर्णय उसे अब भी लेने पड़ते हैं। किन्तु निर्णय लेते समय मूल्य और मान्यताओं से मार्ग-दर्शन पाना उसके लिए असम्भव हो गया है। यही वह स्थिति है, जिसे आदमी ऐंग्विश, नियति अथवा एबर्सडिटी कहता है।

यह स्थिति ज्ञान की अतिवृद्धि से उत्पन्न हुई है। ज्ञान जब-जब कर्म से विच्छिन्न हुआ है, जीवन और साहित्य, दोनों में निराशा की वृद्धि हुई है। आज के चिन्तक उसी दौर से गुजर रहे हैं। आदमी को पृथ्वी, परिवेश और प्रायः सृष्टि से विच्छिन्न करके उसे केवल चेतना का बन्दी बना देने से बहुत-सी दिक्कतें पैदा हुई हैं। आदमी, शायद जीने का आदी नहीं रहा, इसलिए उसकी दुनिया उसकी ही चेतना में कैद हो गयी है।

किन्तु, हमें यह भी याद रखना चाहिए कि काल और मूल्य प्रभावशाली होते हुए भी अनुल्लंघनीय नहीं हैं। प्रत्येक सच्चे कवि का स्वभाव कुछ-कुछ विद्रोही का स्वभाव होता है। कवि विद्रोही इसलिए होता है कि वह मनुष्य की अतृप्तियों से परिचित होता है और तृप्ति के मार्ग की बाधाओं को वह जानता है। इसलिए वह परम्परा से संघर्ष करता है, आचरण-शास्त्र की आज्ञाओं की अवज्ञा करता है तथा मूल्यों की खामियों पर उसकी नजर पड़ती है। परम्परा और विद्रोह, जीवन में दोनों का स्थान है। परम्परा घेरा डालकर पानी को गहरा बनाती है। विद्रोह घेरों को तोड़कर पानी को चौड़ाई में ले जाता है। परम्परा रोकती है, विद्रोह आगे बढ़ना चाहता है। इस संघर्ष के बाद जो प्रगति होती है, वही समाज की असली प्रगति है।

आउट-साइडर

अनादि काल से संसार में एक प्रकार के मनुष्य होते आये हैं, जो समाज के साथ समझौता नहीं कर सकते, न उसे बदलने का वे प्रयास करते हैं। फिर भी उनके अस्तित्व मात्र से विद्रोह की चिनगारी छिटकती है और समाज की शान्ति का भंग होता रहता है। इन नीरव अथवा निष्क्रिय विद्रोहियों का नाम अब आउट साइडर हो गया है।

बुर्जुआ जिस सुविधाजनक और सुरक्षित संसार में रहता है, उस संसार के भीतर आउट-साइडर नहीं रह सकता। रहे, तो भी उस दुनिया को वह सत्य नहीं मानेगा। उसकी कठिनाई यह है कि वह गहराई में बहुत दूर तक देखता है और तब उसे सर्वत्र विशृंखलता नजर आती है, अव्यवस्था नजर आती है, ढोंग नजर आता है। बुर्जुआ के लिए सारी दुनिया सुशृंखलित और शान्तिपूर्ण है। उसके लिए खतरनाक जीव केवल क्रान्तिकारी है। मगर दैनिक जीवन जीते हुए बुर्जुआ को क्रान्तिकारी की याद नहीं रहती। आउट-साइडर के लिए दुनिया रैशनल नहीं है, सुव्यवस्थित भी नहीं है। इसीलिए वह समाज में फैली हुई तथाकथित शान्ति को बर्दाश्त नहीं कर सकता।

आउट-साइडर समाज का वागी होता है। वह जब समाज में फैली हुई अराजकता की बात कहता है, तब उसका उद्देश्य लोगों को चिढ़ाना नहीं होता, बल्कि सत्य का कथन होता है। लिहाज के कारण सत्य बोलना छोड़ दिया जाय, तो गड़बड़ी के ठीक होने की आशा नहीं रहेगी।

अगर यह दिखायी पड़े कि आशा के लिए कोई गुंजाइश नहीं है, तब भी, जो *सत्य है, उसे जरूर बोलना चाहिए।*

मानव-समाज में मनुष्य जिस रूप में जीते हैं, उसे अस्वीकार करना आउट-साइडर का पहला लक्षण है।

आउट-साइडर इस आशा में हो कि उसके चीखने-चिल्लाने या विरोध करने

से समाज बदल जायेगा, ऐसा मुझे दिखायी नही देता। वह स्वीकार करता है कि इस समाज से निकलने का भी कोई रास्ता नही है, उसके इर्द-गिर्द घूमने की भी कोई राह नहीं है और उसे चीरकर बीच से भी भागा नही जा सकता।

शेक्सपियर और कीट्स आउट-साइडर नही थे, न तुलसी और सूर आउट-साइडर थे। इनमे कोई ऐसा लक्षण नही था, जिसे हम रोग या स्नायविक अयोग्यता कहे। वह चीज हमे निराला जी मे दिखायी पडी थी। पंत और महादेवी मे भी वह नही है।

अंधों के बीच काना, यही आउट-साइडर का स्थान है। समाज के और सभी लोग अंधे है, मगर उन्हे अपने अंधेपन का ज्ञान नही है। लेकिन आउट-साइडर जानता है कि वह एक आँख से अंधा है।

सारा समाज बीमार है। लेकिन उसे अपनी बीमारी का ज्ञान नही है। आउट-साइडर की यह विशेषता है कि वह जानता है कि मैं बीमार हूँ।

आउट-साइडर के तरफदार कहते हैं कि बीमारी असल में मनुष्य की प्रकृति है। आउट-साइडर की महिमा यह है कि वह इस सत्य का सामना करता है। उसे नजर-अन्दाज करके वह सुख की जिन्दगी जीना नही चाहता।

किर्केगार्ड ने कहा था, मैं किसी भी सिस्टम मे बिठाया नही जा सकता। मैं गणित का सिम्बाल नही हूँ। मैं मैं हूँ। मैं अकेला रहता हूँ। बिलकुल अकेला। मैं किसी से भी कोई बात नही करता। मैं न तो किसी से कुछ लेता हूँ, न किसी को कुछ देता हूँ।

दावा यह है कि सत्य को केवल आउट-साइडर जानता है और इस सत्य की अनुभूति यदि सभी मनुष्यों को हो जाय, तो जिन्दगी खत्म हो जायेगी। सत्य को नजर-अन्दाज किये रहने के कारण ही समाज चल रहा है।

बागी अस्तित्ववादी ढंग से जीता है। शरीर और आत्मा के भेद पर, मनुष्य और प्रकृति के भेद पर वह ध्यान नही देता। इस विषय पर चिन्तन करने से धर्म और दर्शन उत्पन्न होते हैं और आउट-साइडर इन दोनों का तिरस्कार करता है।

आदमी आउट-साइडर क्यो हो जाता है? जीवन के प्रति उसकी क्षुधा शायद तेज नही होती। अथवा जीवन पर वह इतना सोचता है, इतना विलाप करता है कि भोजन, पद, कीर्त्ति और नारी के प्रति वह उदास हो जाता है। कान्सेंस को पूरी तरह सुलाये बिना, विवेक की धार को कुंठित किये बिना, चिन्तन को पत्थर बनाये बिना आदमी जीवन का पूरा भोग नही कर सकता।

"सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥"

एक आदमी पिंजड़े में बन्द होकर उपवास करने लगा। अन्त में वह सूखकर काँटा हो गया। तब एक दूसरा आदमी आया और उसने पूछा, "भाई, तुमने इतना

लम्बा उपवास क्यों किया ?" उपवास करने वाला आदमी मर रहा था। उसने मरते-मरते कहा, "मेरा संकल्प इतना प्रबल नहीं था कि मैं भोजन का त्याग कर सकूँ। लेकिन रुचि का भोजन मुझे मिला ही नहीं, लिहाजा मुझे उपवास करना पड़ा।"

यह आदमी शुद्ध आउट-साइडर था। आदर्श स्थिति जब तक नहीं मिलेगी, मैं जीवन को स्वीकार नहीं करूँगा, यह उसका व्रत रहा होगा।

यानी स्वच्छ जल मिलने तक पानी मत पियो और गिलास में जो गन्दा पानी है, उसे फेंक दो।

समझौता नहीं करने वाला आदमी आउट-साइडर होता है और इसी कारण वह दुःखी रहता है। आउट-साइडर संसार के परिष्कार की अभिलाषा है। आउट-साइडर वर्तमान के प्रति विरोध है।

संसार की सुन्दरता की कल्पना का जो अंतिम शिखर है, आउट-साइडर हमेशा उसी को देखता रहता है। किन्तु वहाँ तक पहुँचने की उसे स्वतन्त्रता नहीं है, अधिकार नहीं है।

आदमी आउट-साइडर तब बन जाता है, जब वह सोचता है कि वह स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता यानी वह स्थिति कि आदमी जो चाहे वह सोच सके, जो चाहे, वह कर सके।

यह भी है कि आउट-साइडर हर समय यह कोशिश करना चाहता है कि वह आउट-साइडर नहीं रहे। मगर उसकी हर कोशिश नाकामयाब हो जाती है। उसकी किस्मत है कि वह आउट-साइडर ही रहे।

वह स्वतन्त्र होना चाहता है, लेकिन स्वस्थ नहीं, क्योंकि वह मानता है कि स्वस्थ मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है।

आउट-साइडर वह सिपाही है, जो समझता है कि सारी पलटन में वही एक योद्धा है, जो आगे बढ़ रहा है। जिसके भीतर यह अदम्य विश्वास नहीं है, वह सुखों का त्याग किस बिरते पर करेगा ?

धर्म में आउट-साइडर वह है, जो अपने आपसे बाहर निकल गया है। अपने आप पर वह लौटे किस प्रकार, यही उसकी प्रधान समस्या है। "मैं कौन हूँ ?" इसी खोज में उसकी जिन्दगी बीत जाती है।

जो आदमी हमेशा कल्पना की पकड़ में रहता है, वह एक-न-एक दिन आउट-साइडर बन जाता है।

जो आदमी बहुत चिन्तनशील है, उसे मित्र नहीं मिलते।

बुद्ध और कबीर मृत्यु पर सोचते-सोचते आउट-साइडर बन गये थे। आज के बहुत-से चिंतक परमाणु बमों पर सोचते-सोचते, विज्ञान की घातक शक्तियों पर सोचते-सोचते आउट-साइडर बन रहे हैं।

परिभाषाहीन विद्रोह

शुद्ध काव्य की साधना ज्यों-ज्यों बढ़ी, कविता की कला अधिक से अधिक वैयक्तिक होती गयी। प्रतीकवाद का वृक्ष अपने मौसम के बाद भी फूलता रहा। उसके बाद चित्रवाद, अभिव्यंजनावाद और सुर्रियलिज्म के आन्दोलन उठे। मनोविज्ञान का प्रभाव कविता पर वैसे भी पड़ता आ रहा था, किन्तु सुर्रियलिज्म ने उस प्रभाव को और भी सघन बना दिया। इन सभी आन्दोलनों का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि कवि की चेतना अतुलनीय और अद्वितीय मानी जाने लगी, समाज की चेतना से उसका सम्बन्ध शेष होने लगा, विचार कविता से बहिष्कृत समझे जाने लगे और ऐसी बिम्ब-योजना तर्क-बुद्धि का स्थान लेने लगी, जो ऊपर से खंडित और असबद्ध थी, यद्यपि उसका पूर्वापर सम्बन्ध नीचे, अथवा बहुत नीचे, कहीं मनोविज्ञान की भूमि पर जोड़ा जा सकता था।

इस शैली का प्रयोग केवल शुद्धतावादियों तक ही सीमित नहीं रहा, प्रत्युत, उसका प्रयोग उन कवियों ने भी किया, जो विचार से नहीं डरते थे, सामाजिकता से नहीं घबराते थे। अंगरेजी में इलियट और पौण्ड के बाद औडेन और लेवी की पीढ़ी आयी, जिसका उद्देश्य समाजवाद था, जो आर्थिक व्यवस्था को कला की आँखों से देखना चाहती थी। लेकिन, इस पीढ़ी के कवि भी बहुत कुछ उसी शैली में लिखते रहे हैं, जो शुद्धतावादी आन्दोलन से उत्पन्न हुई थी। जर्मन भाषा के कवि बर्टोल्ट ब्रेक्ट समाजवादी थे, किन्तु, शैली उनकी भी वही है, जो शुद्धतावादी प्रयोग से उत्पन्न हुई है।

जिन कवियों ने खुलकर राजनीति को अपना ध्येय माना, उन्होंने इस शैली का प्रयोग लगभग आक्रामक कविताएँ रचने में किया। किन्तु, जो कवि अराजनैतिक थे, लेकिन समाज की आलोचना करना चाहते थे, उनकी कलम से एक विचित्र खीज से भरी, खट्टी कविताएँ निकलने लगीं, जिनमें वैयक्तिक आक्रोश था, सभ्यता के नेताओं के प्रति नपुंसक ईर्ष्या थी, कुरूपता के प्रति असंतोष था और एक प्रकार

की अराजक निराशा थी, जिसकी दिशा का पता नहीं चलता था। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि इस प्रकार का गोल-मटोल विरोध मूलतः वैयक्तिक होता है। ऐसा विरोध वही कलाकार करता है, जो अपने आपको समाज का सिरमौर, सुरुचि और संवेदना की अद्वितीय मंजूषा तथा जीवन के प्रति सबसे ईमानदार समझता है। अमरीका में राजनैतिक कविताएँ छिटपुट ही लिखी गयी हैं। किन्तु समाज की आलोचना वहाँ जिन कवियों ने की है, वे इसी पिछले वर्ग के कवि हैं।

वैयक्तिक संवेदना की लपेट में एक प्रकार के कारणहीन क्रोध, दिशाहीन आक्रोश, बेमतलब की कुढ़न, घुटन और खीझ से भरी हुई कविताएँ लिखने वालों की संख्या द्वितीय महायुद्ध के बाद से, विशेषतः, १९५० ई० से संसार के सभी देशों में बढ़ी है और चूँकि यूरोप का हर अतीत भारत में वर्तमान बनता है, अतएव, ऐसी कविताएँ अब भारतवर्ष में भी लिखी जाने लगी हैं। फ्रांस में ऐसे कवियों का नाम आउट-साइडर (जो नय और आचार के प्रचलित रूप से बाह्य है), डेजर्टर (जिसने प्रचलित मूल्यों को छोड़ दिया है) तथा आब्जेक्टर (जो स्थिर मूल्यों में आपत्ति उठाता है) चलता है। अमरीका में उन्हें सौन्दर्यासक्त अथवा बीट कहते हैं एवं इंग्लैण्ड में उनका सामान्य नाम एंग्री यंगमैन अथवा क्रुद्ध नौजवान है।

यह सम्भवतः ध्यान देने की बात है कि जहाँ का समाज अति-समृद्धि का समाज है, उसके विद्रोही सौन्दर्यवादी हैं तथा जिस देश में सुख का उतना आतिशय्य नहीं है, वहाँ के नौजवान केवल नाराज समझे जाते हैं।

मगर, नामों का ज्यादा महत्त्व नहीं है, न यही कहा जा सकता है कि सभी देशों के क्रुद्ध कवि एक ही भाषा बोलते हैं अथवा उनका ध्येय एक है। फिर भी, विभिन्न देशों के ये कलाकार लगभग एक ही भाव-दशा में पीड़ित दीखते हैं। वे एक साथ बहुत-सी चीजों से नाराज हैं। साहित्य, काव्य, कला, थियेटर, राजनीति, आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक आचार, लगता है, उन्हें कुछ भी पसन्द नहीं। और सब कुछ को वे बिलकुल बदल डालना चाहते हैं। किन्तु, समाज को बदलने के कार्यक्रम उनके पास नहीं हैं, न वे कर्म में भाग लेने को तैयार हैं, न वे यही कहते हैं कि अमुक व्यवस्था क्यों खराब है और उसमें क्या संशोधन होना चाहिए। शुद्ध कवित्व के आन्दोलन ने जो परम्परा बनायी है, वह कर्म के तिरस्कार की परम्परा है, ज्ञान और विचार को अछूत समझने की परम्परा है, उपदेशवाद की गंध से दूर भागने की परम्परा है। वह तर्क नहीं करती, केवल अनुभूति जगाती है और भावातीत बातों का बखान करके पाठकों को चमत्कृत करती है। स्पष्ट है कि क्रुद्ध नौजवानों को समाज की वर्तमान व्यवस्था पसन्द नहीं है और वे रेम्बू और बेयार्न के समान अफ्रीका में भी छिपकर सन्तुष्ट नहीं हो सकते। लेकिन, समाज बदलने का कर्म कविता नहीं, कर्म हिंसा और क्रान्ति की नयी परम्परा कर्म का वर्जन करती है। अतएव, वे क्रुद्ध नवयुवक उमस-भरे बादलों के समान घुमड़ते हैं, मगर छूटकर

बरसने का काम नहीं कर सकते।

इंग्लैण्ड के क्रुद्ध युवकों ने, अलबत्ता, एक सुझाव दिया है कि इंग्लैण्ड से बादशाहत को खत्म कर देना चाहिए। इसी प्रकार अमरीका के एक बीट कवि ने "वन थाउजेण्ड वर्ड्स फार फिडेल कास्ट्रो" नाम से एक कविता क्यूबा के तानाशाह पर लिखी है। किन्तु ये बातें सुझाव से अधिक विस्फोट के रूप में आयी हैं। दरअसल, ये कवि सामाजिक दीखने पर भी राजनीति के कवि नहीं हैं। वे जिन बातों के लिए चीख-चिल्लाहट मचा रहे हैं, वे बातें राजनीति तक सीमित नहीं की जा सकतीं, वे राजनैतिक प्रवृत्ति और भावना से बहुत आगे तक जाने का संकेत देती हैं।

कभी-कभी यह सोचने को जी चाहता है कि साहित्य में इतने दिनों से जो वायवीयता भरी गयी है, वैयक्तिकता का जो सायास अति सस्कार किया गया है, उसके ये क्रुद्ध नौजवान विरोधी हैं और साहित्य को वे फिर से सुबोध बनाकर जनसाधारण के पास ले जाना चाहते हैं। किन्तु, वैयक्तिकता उनकी इतनी कराल है कि नीति, राजनीति, धर्म और सभ्यता, सबके खिलाफ वे जो चाहें, वही बोलना अपना कर्तव्य और अधिकार समझते हैं। सुररियलिज्म ने कवियों का सकोच छुड़ा दिया। जो बातें पहले अवचेतन से ऊपर उठकर चेतन में आने से भी घबराती थीं, ये कवि उन बातों को भी कला के भीतर सजाकर आदमी के आगे पेश कर रहे हैं और इस अदा से पेश कर रहे हैं, मानो, वे पूछना चाहते हों कि अगर ये बातें सच हैं, तो इन्हें बोलने में तुम शरमाते क्यों हो? समाज के जिस किसी भी क्षेत्र में आदरणीय और अधिकारी व्यक्ति हैं, उन्हें ये कवि मखौल की मार से धराशायी करना चाहते हैं, सभ्यता के सभी मूल्यों की हँसी उड़ाकर वे उन्हें उखाड़ फेंकने को कटिबद्ध हैं। लेकिन, या तो निराशा से जर्जर होने के कारण अथवा अकर्मण्यता और आलस्य के अधीन, ये कवि कर्म-योजना को पसन्द नहीं करते, केवल जडक्रिय तटस्थता की आड लेकर जीना चाहते हैं। हाँ, सभ्यता के भीतर जो लूट मची हुई है, मौका खोजकर, ये विद्रोही भी उस लूट के मजे लेते हैं। केनेथ अलसाप ने लिखा है, "The angry young man lashes out and the angry young man cashes in" अर्थात् क्रुद्ध नौजवान कोरे भी फटकारते हैं और पैसे भी वे ही कमा रहे हैं।

क्रुद्ध युवकों की पीढ़ी का स्वागत इंग्लैण्ड में जैसा अच्छा हुआ है, वैसा अच्छा स्वागत विरले लोगों को प्राप्त होता है। उन्हें पाठक मिले हैं, पत्रकार मिले हैं, थियेटर, रेडियो और टेलिविजन उनके अनुकूल हैं। लेखकों की सही शिकायत एक ही हो सकती है कि हमारे पाठक नहीं हैं। इंग्लैण्ड की नाराज पीढ़ी को समाज ने इस शिकायत का मौका नहीं दिया। किन्तु, इंग्लैण्ड की नयी पीढ़ी तब भी नाराज है। सुविधाएँ प्राप्त कर लेने के बाद उसे अपने कंधों पर जिम्मेदारी का बोझ

अनुभव करना चाहिए था। लेकिन, यह एहसास उसमे नही है। इस स्थिति से खीझ कर ए० पी० हर्बर्ट ने पंच मे एक कविता छपवायी थी, जिसकी कुछ पंक्तियो का कच्चा-पक्का अनुवाद नीचे दिया जाता है :

जब से यौवन शुरू हुआ,
कोई भी ब्रिटिश जवान
कहाँ तुम्हारी तरह
नेमतों से भरपूर, सुखी था ?
युद्ध नाम से घबराते हो ?
पर मैंने जीवन में
दो लड़ाइयाँ लड़ीं,
तीसरी का भी दंश सहा है।
हमने तो अपनी किस्मत पर
उफ भी नहीं किया था,
न तो गर्भ से हम निराश,
रूठे, विपण्ण आये थे।
अन्धकार में भी कुछ थोड़ी
चमक हमें दीखी थी।
समझोगे तुम भी सब कुछ
लाड़लो ! समय आने पर।

गुणो और दुर्गुणो का उनके भीतर ऐसा विचित्र समवाय है कि न तो हम यही यह सकते हैं कि ये नौजवान समाजद्रोही हैं, न यही कहते बनता है कि सभ्यता की आगामी किरणें उनके भीतर से जगमगा रही हैं। उनके भीतर प्रतिभा है, शक्ति है, ताजगी है, व्यंग्य का माद्दा है और सबसे बढ़कर चिन्तन मे एक प्रकार की कठोर सचाई की झलक है। किन्तु, वे शून्यवादी, नास्तिक और निहिलिस्ट हैं। जिन मूल्यों के सहारे वर्तमान सभ्यता टिकी हुई है, उनमें से किसी भी मूल्य को वे मानने को तैयार नहीं हैं। वे राजनीति मे अपने को तटस्थ बताते हैं, किन्तु जब-तब उनके भीतर फासिस्ट प्रवृत्तियाँ भी दिखायी दे जाती हैं। सबसे बुरी बात यह है कि वे कभी भी खिसियाहट और कुढ़न के बिना कोई बात नहीं बोलते और बराबर यह प्रदर्शित करते रहते हैं कि यह दुनिया हमारे लिए अजनबी जगह है और इसकी कोई भी जिम्मेदारी लेने को हम तैयार नहीं हैं।

इंग्लैण्ड में कोलिन विलसन इस आन्दोलन के 'गुरिल्ला दार्शनिक' समझे जाते हैं। जब उनकी 'आउट-साइडर' नामक पुस्तक निकली, जे० बी० प्रिस्टले ने उस पर अपनी सम्मति देते हुए कहा था, "यदि आउट-साइडर अहंभाव के जहर में इतना जहरीला हो उठा है, यदि यह केवल घाव करना जानता है, मरहम लगाना

नही जानता, यदि उसके भीतर घृणा अधिक और प्रेम कम है, तो हम यह आशा कैसे कर सकते हैं कि वह हमे समाधान के पास पहुँचायेगा ?" (अवश्य ही प्रिस्टले की यह उक्ति 'आउट-साइडर' के उन पात्रों पर लागू नही होती जो अमृत के कोष हैं।)

और सामरसेट माम ने नव-लेखकों पर यह राय दी थी कि "ये लोग पानी के ऊपर के बुलबुले और फेन है।"

बुलबुले और फेन वे हो सकते हैं, लेकिन जल के भीतर की वह अशान्ति क्या है, जिसके कारण ये बुलबुले और फेन उठ रहे हैं ? समझा अक्सर यह जाता है कि ये वे लेखक और कवि है, जिनके बचपन अथवा चढ़ती जवानी के दिन युद्ध की छाया मे बीते हैं। बमो की गड़गड़ाहट, आसमान से होने वाली अग्नि-वृष्टि, रह-रह कर साइरेन का बजना, लोगो का हवाई हमलों से पनाह पाने को मोर्चो मे पडा रहना, भोजन अनियमित, शयन अनियमित, वस्तुओं का अभाव, संबंधियो का विछोह और बीसों प्रकार की मानसिक यंत्रणाएँ, इतने तनाव के वातावरण मे जो आदमी बढ़कर जवान होगा, वह क्या उसी प्रकार सोचेगा जिस प्रकार पहले वाली पीढ़ी के लोग सोचते थे ? वह क्या उसी तरह बोलेगा, जैसे पिछली पीढ़ी के लोग बोलते थे ? और तब ये युवक विश्वविद्यालयों में पहुँचे होगे और उन्होंने ऊँची-ऊँची कविताएँ पढी होगी, ऊँचे-ऊँचे दार्शनिक व्याख्यान सुने होंगे और इस बात पर विस्मय मे विचार किया होगा कि ससार के राजनेताओ की अगर तैयारी हमेशा युद्ध के लिए ही चलती है, तो फिर वे दुनिया को शान्ति क्यों सिखाते है ? कोई आश्चर्य नही कि ये लेखक और कवि राजनीति से जितने नाराज हैं, उतने नाराज वे और किसी भी बात से नही है। "जवानों की पीढी अराजनैतिक है और अराजनैतिकता को लेकर ही समूचे यूरोप के जवान एक है। यह पक्षपातहीन युवको का पक्ष है। आज ब्रिटेन मे सामान्य धारणा यह है कि राजनीति गुंडो का राकेट है। राजनीति का सबसे अच्छा और सबसे विश्वसनीय ध्येय स्वार्थ है। राजनीति के लोग स्वार्थी होते हैं, शोहदे होते हैं, मूलतः बेईमान होते हैं"।

पहले महायुद्ध की कुर्बानी बेकार गयी थी। दूसरे महायुद्ध मे युवक सदिग्ध मन से ही अपना बलिदान करने को गये थे, किन्तु अन्त मे, दिखायी पडा कि दूसरे महायुद्ध की भी कुर्बानी व्यर्थ हो गयी। प्रत्येक युद्ध तभी लडा जाता है, जब उसे रोकने की राह नही रह जाती है और लड लेने के बाद प्रत्येक युद्ध बेकार प्रतीत होता है। और शान्ति के कागज पर दस्तखत होते ही लड़ाई की तैयारी फिर शुरू हो जाती है। क्रुद्ध नौजवानो के भीतर जो तीखी अनुभूति आगे चलकर उत्पन्न होने वाली थी, उसका आभास जर्मन कवि ब्रेक्ट ने कुछ पूर्व ही दिया था :

सत्य है कि मैं अंधे युग का वासी हूँ।
शान्ति से बोलना बेवकूफी की बात है।

ललाट पर शिकन का न होना,
असंवेद्यता की निशानी है।
जो आदमी हँस रहा है,
स्पष्ट ही,
उसके कानों में खौफनाक खबरें नहीं पहुँची हैं।
× × ×
मनुष्य जीता कैसे है ?
अपने भाइयों का गला दबाकर,
उन्हें पीस कर,
उनका पसीना निकाल कर।
नहीं, महाशयो ! नहीं,
हम इस सत्य से भाग नहीं सकते,
आदमी सिर्फ गन्दे कामों से जीता है।

जिन दिनों लड़ाई चल रही थी, आज के क्रुद्ध युवक या तो बच्चे थे अथवा किशोर। किन्तु, उस समय कुछ ऐसे कवि भी थे, जिन्हें जबर्दस्ती लाम पर जाना पड़ा था। गोलियों की वृष्टि के नीचे और खन्दकों में दिन गुजारने वाले इन कवियों ने मोर्चों पर काम करते समय ऐसी अनेक कविताएँ लिखीं, जो साहित्य की शोभा बढ़ाने वाली कृतियाँ हैं। किन्तु, इन कविताओं में लड़ाई के लिए जोश नहीं है, शत्रु को पराजित करने की आतुरता नहीं है, न देशभक्ति के उन्मादक भाव हैं। ये कविताएँ उस दर्दनाक बेबसी के इर्द-गिर्द चक्कर काटती है, जिसके कारण मनुष्य को अनिच्छित काम करना पड़ता है, एक ऐसी जिन्दगी जीनी पड़ती है, जो तर्कहीन, बेबस और लाचार है। उन परिस्थितियों से समझौता करना पड़ता है, जिन्हें एक क्षण भी बर्दाश्त नहीं किया जाना चाहिए। चर्चिल के वाक्यों में जो जोश था, वह जोश मोर्चों के जवानों में नहीं था। वे राजनीति से नाराज थे, अपनी किस्मत से बेजार थे। हाथों से तोपें और बन्दूकें चलाते रहने पर भी, मन से वे युद्ध से घृणा करते थे। जो अनुभूति आगे चलकर क्रुद्ध युवकों को होने वाली थी, उस अनुभूति का जन्म इन सैनिक कवियों की कविताओं में युद्ध के समय ही हो चुका था :

"तुमने मुझे खरीदना चाहा था
और आखिर में खरीद ही लिया।"
× × ×
आइटम—एक नौसैनिक, जिसकी टाँगें कट गयी हैं।
फायदा—गैर-जिम्मेवार राजनीतिज्ञों के लिए वोट।
आइटम—सिपाही की दाहिनी बाँह नहीं है।
फायदा—विवेकहीन अखबारों के लिए मसाला।
× × ×

सामीनाथ की वह औरत,
जो सरकार के शोक-तार को पढ़ कर
इकलौते बेटे के लिए रो रही है।

× × ×

हम कैलेन्डर के गलत पेज पर मरे।
हमने उन नगरों को जलाया,
जिनके बारे में हमने स्कूल में पढ़ा था।
उन्होंने कहा, "मवशी यहाँ हैं",
और हमने नगरों को जला दिया।
ज्यादा दिन बचने वालों को
तमगे और ईनाम मिलते हैं।
लेकिन, जब हम मरते हैं,
कहा जाता है, हताहतों की संख्या अल्प है।

× × ×

मेरे मरे हुए दोस्त
अब देखो,
जिन्होंने तुम्हें देश-भक्ति के बहाने
फुसलाया था,
वे तुम्हें कहाँ पहुँचा गये?

× × ×

"वीर, यह शब्द केवल शान्ति-काल के लिए है।
युद्ध तो तीन ही वास्तविकताएँ जनता है,
दुश्मन, बन्दूक और जिंदगी।
जो पनाह खोजते हुए
एक पेड़ से दूसरे पेड़ की ओर नहीं भागा है,
जिसने धरती खोदकर अपनी गरदन नहीं छिपायी है,
बमों के धड़ाकों से हिलती धरती की गोद में
जिसने अपने घुटने नहीं समेटे हैं,
वह आदमी युद्ध को नहीं जानता है।

× × ×

लेकिन याद रखो,
जिसे तुम मार गिराते हो,
वह एक दिन अचानक खड़ा हो जाता है
और तुम्हारी आँखों में आँखें डालकर

बड़ी ही संजीदगी से पूछता है,
"भाई, मुझे तुम क्यों मारते हो ?
मैं तो आदमी हूँ।"

प्रिस्टले के उपदेश, माम की मखौल और हर्बर्ट की कविता से क्रुद्ध नौजवानों की गर्म नाड़ियाँ ठंडी नहीं बनायी जा सकतीं। सभ्यता के भीतर जहाँ आग लगी है, वहाँ आग बुझाने वाली नलें पहुँच ही नहीं सकतीं। यह आग न तो प्रिस्टले बुझा सकते हैं, न यह चर्चिल के ओजस्वी वाक्यों से बुझेगी। शायद सारी सभ्यता विनाश की लपेट में है। शायद मनुष्य उस राह पर आयेगा ही नहीं, जो विनाश से बचने की राह है। सवाल यह है कि क्या मनुष्य विनाश से बच सकता है ? और यही सवाल हमारे युग की बेचैनी और उसका दर्द है। कर्त्तव्य की योजनाएँ बनाने से फायदा क्या है ? कौन उन योजनाओं को मानेगा ? क्रुद्ध युवक मानते हैं कि वे वह शुतुर्मुर्ग हो गये हैं, जो तूफान से बचने के लिए अपनी गरदन बालू के भीतर घुसेड़ देता है। "मगर, आँख खोलकर तो कोई बेवकूफ भी चीजों को देख सकता है। लेकिन, शुतुर्मुर्ग को जो चीजें बालू के भीतर दिखायी देती है, उनका गवाह कौन है, वे चीजें और किसको दिखायी देती हैं ?"

जार्ज आरवेल ने आज से तीस वर्ष पहले लिखा था, "आदमी का व्यक्तित्व राजनीति और टैंकों से रौंदा जायगा।" क्रुद्ध कवि अपनी आत्मा पर राजनीति और टैंकों का बोझ अनुभव करते हैं। इसीलिए वे दुःखी हैं, नाराज हैं। उनका काम ज्ञान-दान और योजना-निर्माण नहीं है। वे बुद्धि के विरोधी और भावना के तरफदार हैं। "हम तो सिर्फ वे ही बातें बोलते हैं, जिन्हें जनता सोच रही है। मगर हम चाहते हैं कि जनता तड़पे और क्रोध करे, रोये और विलाप करे, बातों को एहसासे और व्याकुल हो जाय। हम जनता के भीतर दर्द की अनुभूति जगाना चाहते हैं। सोचने का काम वह बाद में कर लेगी।"

क्रुद्ध युवकों की चिन्ताधारा एक प्रकार की भयानक मोह-भंग की मुद्रा से उत्पन्न हुई है। "सत्य के ज्ञान से जीवन का आनन्द मधुर नहीं होता। जीवन जिस मिथ्या माया के कारण सह्य है, सत्य उस माया को ही उजाड़ डालता है।"

विलसन ने किसी आचार्य से पूछा था, "निहिलिज्म का अर्थ क्या है ?" आचार्य ने बताया, "प्रत्येक वस्तु के मिथ्यापन में विश्वास।" विलसन आनन्द से उछल पड़ा, क्योंकि उसे अपनी मनोदशा के लिए उपयुक्त नाम मिल गया था। "हाँ, निहिलिज्म किसी वस्तु में विश्वास के अभाव को नहीं कहते हैं। यह प्रत्येक वस्तु के मिथ्यापन में विश्वास का नाम है।" क्रुद्ध नौजवानों को सभ्यता का कोई भी मूल्य कोई भी आचार पसन्द नहीं है। वे सभी मूल्यों और सभी मान्यताओं को गलत समझते हैं।

जीने की विवशता से प्रेरित होकर ये कलाकार सुख और सुविधा की तो खोज

करते हैं, किन्तु समाज की परम्पराओं को अपने पास फटकने देना नहीं चाहते। वुद्धि बताती है, अगर उन्हें समाज से घृणा है, तो उन पर यह दायित्व भी आता है कि अपनी घृणा के औचित्य का ब्यौरा वे समाज को समझने दें। किन्तु, द्वितीय महायुद्ध के बाद यूरोप और अमरीका में जो विरोधमूलक साहित्य तैयार हुआ है, उसमें विरोध के कारणों का उल्लेख नहीं है। सम्भव यह है कि लेखक समाज का विरोध केवल विरोध के लिए कर रहे हैं। वास्तव में, इस विरोध में उनकी अपनी आस्था भी काफी मजबूत नहीं है। शायद, समाज के भीतर वे अपनी स्थिति को डावाँडोल महसूस करते हैं, शायद अपने विरोध के उद्देश्य का उन्हें खुद भी कोई ज्ञान नहीं है, अतएव आत्म-सन्देह को छिपाने के लिए वे और अधिक कटुता, और अधिक कड़वेपन का आश्रय ले रहे हैं। ज्यों-ज्यों समाज उनकी कटूक्तियों की उपेक्षा करता है, इन लेखकों का निहिलिज्म और भी तेज होता जाता है।

लेकिन, निहिलिज्म क्या कोई जीवन-दर्शन हो सकता है? निहिलिज्म विफलता-बोध से उत्पन्न एक ऐसा ध्वंसात्मक भाव है, जो हर चीज को गलत मानता है। मगर जो बात सही हो सकती है, उसका पता उसे कहीं नहीं चलता। समाज के स्तर पर वह अराजकता और अव्यवस्था का पर्याय है तथा साहित्य के भीतर वह उस अगुरु का धुआँ है, जो सूने मन्दिर में जल रहा है। वह शान्ति को केवल शान्ति के लिए पूजने की भावना है। यह वीरता और बलिदान को केवल वीरता और बलिदान के लिए जगाने का भाव है। यह वह स्वतन्त्रता है, जो जीवन की सेवा का मार्ग नहीं जानती। यह वह अधिकार है, जो अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अपराध अथवा आत्महत्या को जायज बताना चाहता है। निहिलिज्म का सहारा वह व्यक्ति लेता है, जो यह समझता है कि उसके हाथ और पाँव बँधे हुए हैं तथा बकने के सिवा वह और कुछ करने से लाचार है। किन्तु, जो लोग यह समझते हैं कि मनुष्यता अभी जीवित है, वह जगायी जा सकती है और वह अपना सुधार भी करने में समर्थ है, वे ऐसे नैराश्यवादी दर्शन के चक्कर में नहीं पड़कर किसी ऐसी विचारधारा से काम लेते हैं, जो निहिलिज्म की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट और ध्येययुक्त हो।

कभी-कभी हमें ऐसा लगता है कि अमरीका के बीट और इंग्लैण्ड के क्रुद्ध युवकों ने अपने लिए जो शैली तैयार की है, वह कविता में शुद्धता लाने वाले आन्दोलनों का ही एक अप्रत्यक्ष परिणाम है। लेखक बराबर यह चाहता है कि उसके पाठक थोड़े नहीं, अधिक से अधिक लोग हों। मगर, जब रेम्बू और मेलार्मे के प्रयोगों के कारण कविता के पाठकों की संख्या घटने लगी, तब उन्हीं लोगों ने सोचा था कि जो क्षति सामाजिकता के त्याग से हो रही है, उसे शैली के जादू से पूरा करेंगे। तब से कवि-गण बराबर शैली के जादू का भरोसा ज्यादा करते रहे हैं और आलोचकों के एक दल को बराबर यह सन्देह रहा है कि यह एक तरह की क्षति-पूर्त्ति का ही प्रयास है।

जब भी कोई सर्वथा मौलिक कृति समाज के सामने पहले-पहल आती है, समाज की चेतना को उससे धक्का-सा लगता है और वह कृति सर्वत्र चर्चा की वस्तु बन जाती है। जब इलियट का वेस्ट लैंड पहले-पहल प्रकाशित हुआ था, समाज के मन पर उस कविता से धक्का लगा था। मगर, अब उस कृति से किसी को भी धक्के की अनुभूति नही होती। बडी से बडी मौलिकता भी युग-युगान्तर तक धक्कामार नही रह सकती। काल पाकर लोग उसके अभ्यस्त हो जाते है और उसका "शॉक" एक तरह से मर जाता है। पिकासो एक समय बेजोड धक्कामार थे, मगर, अब उनके चित्र धक्के की अनुभूति नही देते हैं। कुछ यह बात भी है कि पिछले सौ वर्षों से साहित्य और कला ने जन-रुचि को इतने अधिक धक्के दिये हैं (जैसे नीत्से और बर्नार्ड शा ने) कि जनता अब ऐसी शैली की अभ्यस्त हो गयी है और कड़वी से कड़वी बातो से भी वह अधिक विचलित नही होती। इससे कवियो को निराशा ही रही है। ये चाहते हैं कि लोग घबरायें, विचलित हो, जनता के बीच खलबली मचे और लोग हमारा विरोध करें। लेकिन, जब उनके सामने रुकावट नही डाली जाती, वे और निराश हो जाते हैं तथा उनकी भाषा और भी धक्का-मार हो उठती है।

यह प्रवृत्ति केवल यूरोप और अमरीका में ही नही बढी है, उसके कुछ थोडे आसार रूस और चीन मे भी हैं। मगर, रूस और चीन की सरकारें ऐसी बातो को चलने देना नही चाहती। तब भी, जब-तब इस प्रवृत्ति के दृष्टान्त उन देशो मे भी दिखायी पड जाते हैं। असल मे, पूँजीवादी और समाजवादी, दोनो ही प्रकार के देशो मे एक विचारधारा प्रकट हुई है, जो मर्यादा-भग और स्थिर मूल्यो के विरोध की भावना को सिद्धान्त का रूप देना चाहती है।

सरकारें समाजवादी हो या पूँजीवादी, वे यह जरूर चाहती हैं कि कविता और साहित्य समाज की उन्नति और विकास में सहायता प्रदान करें। और ऐसा वे चाहे क्यो नही ? समाजवादी योजना के आदि आचार्य प्लेटो ने ही तो कहा था कि उनकी कल्पना के समाज मे कवियो के लिए कोई स्थान नही है। निदान, सरकारें कवियो को स्थान तब देंगी, जब वे अपने को समाज के लिए उपयोगी सिद्ध करेंगे। यही कारण है कि बीट और क्रुद्ध युवको की भावना राजनीति के प्रति प्राय एक ही समान है। यही कारण है कि साम्यवादी देश का कोई कवि यदि राजनीति द्वारा निर्धारित लक्ष्मण-रेखा का अतिक्रमण करता है, तो उस देश की सरकार तो अप्रसन्न हो जाती है, लेकिन, *अमरीका और यूरोप के कलाकार उसे हाथों-हाथ उठा लेते* हैं। अमरीका के गिन्सबर्ग, रूस के येवतेशेंकू और इग्लैंड के टेडी कवि, इन सबकी विचारधारा आपस में मिलती-जुलती है।

और रूस में केवल येवतेशेंकू ही नही हैं, वहाँ और भी नये कवि हैं, जो रूस के क्रुद्ध युवक समझे जाते हैं। साम्यवाद से उनका कोई विरोध नही है, लेकिन साहित्य

और कला की एकरसता से वे ऊब गये हैं। पंख खोलकर कल्पना की अज्ञात दिशा की ओर वे उड़ना चाहते हैं। सारे संसार में साहित्य के भीतर यह भाव सिर उठा रहा है कि साहित्य को राजनीति से सावधान रहना चाहिए और जहाँ भी साहित्य राजनीति की अधीनता में है, वहाँ उसे इस अधीनता से मुक्त होना चाहिए। कुछ यह प्रेरणा भी है, जो नयी पीढ़ी को राजनीति से विमुख किये जा रही है।

जब से हिरोशिमा पर बम फेंका गया (१९४५ ई०), प्रायः तभी से विश्व-साहित्य में भाव की एक धारा प्रकट हुई है, जो सनसनीखेज है, आक्रामक और प्रचारेच्छुक है। इन सभी लेखकों में एक प्रकार की आध्यात्मिक बेचैनी मिलती है, आत्मा की तड़प मिलती है, संसार को हिलाने का जोश मिलता है। जो लोग आस्तिक हैं, उनकी तड़प की भंगिमा एक तरह की है; जो नास्तिक हैं, उनकी तड़प कुछ और है। लेकिन समाज के ध्येयों की निन्दा, मर्यादा-भंग की प्रवृत्ति और नैतिकता की खिल्ली उड़ाने का भाव इन सभी लेखकों में समान रूप से मिलता है। बीटों के बीच आपसी मतभेद चाहे जो हो, किन्तु एक बात में वे सब समान हैं यानी समाज को बर्दाश्त करने की बात उनमें से कोई नहीं करता, शहरों और नगरों में जो मनुष्यों का सुसंगठित समाज चल रहा है, उससे वे ऊबे हुए हैं और इतने ऊबे हुए हैं कि मर जाना उन्हें ज्यादा पसन्द है।

सामान्य सामाजिक जीवन के वे खिलाफ हैं। अच्छा जीवन वह है, जो निरा वैयक्तिक है, जो आवारों का है, घुमक्कड़ों का है, अव्यवस्थित और सनकी लोगों का है। अच्छा जीवन सामाजिक नहीं होता, वह हमेशा आन्तरिक होता है, जहाँ आदमी जो भी चाहे, सोच सके, जो भी चाहे, बोल सके, जो भी चाहे, कर सके। वैयक्तिकता को पहले के कवियों ने किसी ऊँचे ध्येय की सिद्धि के लिए स्वीकार किया था। किन्तु, अब उसका उपयोग गन्दी और हेय बातों के लिए किया जाने लगा है।

किन्तु, बीटों में कभी-कभी ऐसी बातें भी मिलती हैं, जिनसे अनुमान होता है कि, हो न हो, उनका रोग धार्मिक स्नायुघात का रोग है और, अप्रत्यक्ष रूप से, वे किसी-न-किसी तरह की आध्यात्मिक शान्ति की तलाश में हैं। इसी प्रकार, इंग्लैंड के क्रुद्ध युवकों को यह अनुभूति बहुत भली लगती है कि हम अभागे लोग हैं। पूर्वजों ने हमारी सारी समस्याएँ हल कर दीं। उन्होंने ऐसा कोई ध्येय क्यों नहीं छोड़ा, जिसके लिए हम संघर्ष करते?

खैरियत की बात यह है कि भारत के क्रुद्ध नौजवान उतने अभागे नहीं हैं। उनके पूर्वजों ने दरिद्रता, अनेकता और अभावों का इतना भयानक उत्तराधिकार छोड़ा है कि वह अभी पीढ़ियों तक भी हल नहीं होगा।

आधुनिकीकरण

आधुनिकीकरण की पहचान है समाज का सुदृढ़ संगठन, प्रशासन का सुदृढ़ और प्रभावकारी होना, राजनैतिक स्थायित्व, उचित सफाई, स्वच्छ जल, बिजली की लगातार सप्लाई, जनसंख्या पर नियन्त्रण, शिक्षा के स्तर का ऊँचा होना तथा ट्रेनिंग और एक्सपर्टाइज। जिस जाति ने एलोरा बनाया, अजन्ता बनायी, महाबलीपुरम् बनाया और ताजमहल बनाया, उसके समाज मे आधुनिकता के ये गुण रहे होंगे।

एशिया महाद्वीप मे ये गुण आजकल जापान मे सबसे अधिक दिखायी देते हैं। मगर जापानी कितने बुद्धिमान् हैं ? यूरोप से उन्होंने टेक्नालॉजी ली, पोशाक भी ली, लेकिन मन और स्वभाव, रिवाज और तहजीब उन्होंने अपनी ही रखी। पिछले साल जब जापान मे विमान-दुर्घटना हुई, मन्त्री और सबसे बडे अधिकारी ने इस्तीफा दे दिया और मृतको के परिवारो के सामने उन्होंने घुटने टेककर माफी मागी। और यह काम उन्होने पार्लमेन्ट के दबाव मे आकर नही किया। अखबारो मे चर्चा छिडने के पहले ही वे अपने पदो से अलग हो गये। यह है जापानी चरित्र और जापानी सभ्यता।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद जापान जब अमरीका के कब्जे मे था, जापानियो ने सोचा, पश्चिम के लोग बली और लम्बे शायद इसलिए हैं कि वे प्रोटीन अधिक खाते है। फिर जापानियो ने मास अधिक खाना शुरू किया और कहते है, अब उनकी सतानें लम्बी होने लगी हैं।

एशिया कृषि-प्रधान महादेश है, जैसा महादेश यूरोप १५वी-१६वी सदी मे था। अमरीका अब टेक्नोट्रेनिक युग मे प्रवेश कर रहा है।

एशिया यूरोप की टेक्नालॉजी अपनाकर यूरोप बन सकता है या नही ? बाधक हैं एशिया के मूल्य, एशिया की सस्कृति। उदाहरण के लिए चीन और भारत मे मूल्य अवकाश पर आधारित है। भारत मे जो सफल एक्जेक्युटिव होता

है, वह भी यह ख्वाब देखता है कि कार्य-निवृत्त होने पर यानी अवकाश प्राप्त करने पर वह चिंतन, ध्यान, धारणा और शान्ति का जीवन बिता सकेगा। जीवन की हलचल, उद्दामता, कोलाहल, बेचैनी और अशांति एशिया वालो को पसन्द नही है। वे जीवन का शान्त रूप चाहते हैं, जिसमें थोड़ी प्राप्ति होने पर भी सन्तोष रहे। मगर यूरोप की आफियत, सुविधा और सुखभोग को एशिया वाले भी लालच से देखते हैं।

पुराने मूल्य पर नये मूल्य की कलम लगाये बिना एशिया वालो का कल्याण नहीं है।

ऊँचे विज्ञान और ऊँची टेकनालॉजी का शीघ्रता से ज्ञान प्राप्त करना, ऊँची कारीगरी सीखना, प्रबन्ध की योग्यता तेजी से बढाना तथा व्यापार के अच्छे-से-अच्छे गुर सीखना, ये काम रिलैक्स्ड कल्चर से मेल नही खाते। आलस्य और अवकाश-प्रियता आधुनिकता के विरुद्ध है।

यूरोप दो सौ वर्षों से घोर परिश्रम कर रहा है। इसी परिश्रम का फल है कि अब वह अवकाशवाली सभ्यता मे प्रवेश करने वाला है। कठिन परिश्रम, मितव्ययिता और साहस, इन्ही तीन गुणो के कारण यूरोप मे समृद्धि आयी और अब अवकाश का अवसर आने वाला है। लेकिन अब यूरोप के युवक और यूनियनवादी मजदूर इन्ही तीनो गुणो के विरुद्ध जा रहे हैं। फिर यूरोप की समृद्धि और विकास टिकेगा क्या? एशिया के नौजवानो को यह नही सोचना चाहिए कि कठोर श्रम, मितव्ययिता और साहस नयी टेकनालॉजी के कारण फालतू हो गये हैं, अतएव उनके बिना ही हम औद्योगिक युग मे पहुँच जायेंगे। यूरोप के युवक समृद्धि से उकताकर दायित्व को छोड रहे है, लेकिन हमारे पास समृद्धि अभी नही है।

धनी देश पिछडे देशो की बड़ी सहायता कर रहे हैं, फिर भी पिछड़े देश पिछडे ही हुए हैं। दो पीढ़ियों की कुर्बानी के बिना कोई भी देश आगे नहीं बढेगा।

पिछड़े देशो के प्रशिक्षित नवयुवक अपने देशों से भागकर सम्पन्न देशों में चले जाते हैं। इनसे उन्हें तो मौज-मजे की जिन्दगी मिल जाती है, लेकिन उनके अपने देश की उन्नति नही होती। खास जिम्मेदारी तो प्रशिक्षित नवयुवकों पर ही है। वे यदि अति-सुख के लोभ मे पड गये, तो जनता का भाग्य कौन सुधारेगा?

आधुनिक बनें या न बनें, यह सवाल नही है। सवाल यह है कि द्वन्द्व में पड़ने पर हम पक्षपात किसके साथ करेंगे, आधुनिकता के साथ या परम्परा और संस्कृति के साथ? एक रास्ता यह है कि आधुनिक हम वही तक बनें, जहाँ तक वह हमारी संस्कृति के अनुकूल हो। दूसरा रास्ता यह है कि हम आधुनिकता को पूरे मन से अपनायें और इस क्रम मे परम्परा का जो अंश बच पाये, हम उसे ही पर्याप्त समझें।

अपनी संस्कृति का सार इसलिए बचाना है कि आधुनिक बनते-बनते हम यूरोप और अमरीका की डुप्लीकेट कापी बनकर न रह जायें। दुनिया एक हो, यह नारा बहुत सही है, लेकिन भिन्न-भिन्न देशों की परम्पराएँ अगर जड से उखाडकर फेंक दी गयी, तो दुनिया एक तो हो जायगी, लेकिन रंग उसका भूरा हो जायगा, चितकबरा नहीं रहेगा और रस तो उसमें रहेगा ही नही। क्या होटलो का जीवन एकरस नही है ? फिर भी होटल मे ही सारी दुनिया एक समान दिखायी देती है। भारतीय होटलो मे जीवन का वही रूप है, जो हम हमे अमरीका और यूरोप के होटलो मे दिखायी पडता है।

विज्ञान, टेकनालॉजी, कम्प्यूटर, आटोमेशन और साइबरनेटिक्स, ये तो बाहर से हम ले लेंगे, लेकिन सगीत, नृत्य, खान-पान और रस्म-रिवाज हम अपना ही रखेंगे। दुनिया एक हो, इसके लिए यह जरूरी नही है कि हम बाहर की उच्छृ ख-लता को, कामुकता को, नग्न आचरण को, बूढ़ो के अनादर और उपेक्षा को, दो महीनो तक चलने वाली शादियो को भी अपना लें।

जापान ने औद्योगिक सभ्यता को पूरा-का-पूरा अपना लिया है, लेकिन साथ ही उसने अपनी परम्परा की रीढ को टूटने नही दिया, अपनी संस्कृति के सार की रक्षा कर ली और अपनी जीवन-दृष्टि को कायम रखा है। अंग्रेजी का सदुपयोग करके जापान ने अपना औद्योगिक उद्धार कर लिया और साथ ही अपनी भाषा की क्षमता का भी विकास कर लिया। अपनी भाषा की उन्नति करना और उन्नत देशों की भाषाएँ सीखना, इन दोनो के बीच कोई विरोध नही है।

हमारी संस्कृति और आधुनिकता

बहुत-से विद्वानो और चिन्तकों ने इस बात को लेकर चिन्ता प्रकट की है कि भारतीय समाज आधुनिकता से बहुत दूर है और भारत के लोग अपने-आपको आधुनिक बनाने की कोशिश भी नहीं कर रहे हैं।

नैतिकता, सौन्दर्यबोध और अध्यात्म के समान आधुनिकता कोई शाश्वत मूल्य नहीं है। वह कई चीजों का एक सम्मिलित नाम है। औद्योगीकरण आधुनिकता की पहचान है। साक्षरता का सर्वव्यापी प्रसार आधुनिकता की सूचना देता है। नगर-सभ्यता का प्राधान्य आधुनिकता का गुण है। सीधी-सादी अर्थव्यवस्था मध्यकालीनता का लक्षण है। आधुनिक देश वह है, जिसकी अर्थव्यवस्था जटिल और प्रसरणशील हो और जो 'टेक-आफ' की स्थिति को पार कर चुकी हो।

आधुनिक समाज मुक्त और मध्यकालीन समाज बन्द होता है। बन्द समाज वह है, जो अन्य समाजो से प्रभाव ग्रहण नहीं करता, जो अपने सदस्यो को भी धन या संस्कृति की सीढ़ी मे ऊपर उठने की खुली छूट नहीं देता, जो जाति-प्रथा और गोत्रवाद मे पीडित है, जो अन्धविश्वासी, गतानुगतिक और संकीर्ण है।

आधुनिक समाज मे उन्मुक्तता होती है। उस समाज के लोग अन्य समाजों के लोगों से मिलने-जुलने मे नही घबराते, न वे उन्नति का मार्ग खास जातियो और खास गोत्रों के लिए सीमित रखते हैं। आधुनिक समाज सामरिक दृष्टि से भी बलवान समाज होता है। जो देश अपनी रक्षा के लिए भी लड़ने मे असमर्थ है, उसे आधुनिक कहलाने का कोई अधिकार नहीं है। आधुनिक समाज के लोग आलसी और निकम्मे नहीं होते। आधुनिक समाज का एक लक्षण यह भी है कि उसकी हर आदमी के पीछे होने वाली आय अधिक होती है, उसके हर आदमी के पास कोई धन्धा या काम होता है और अवकाश की शिकायत प्रायः हर एक को रहती है।

लेकिन ये आधुनिकता के बाहरी लक्षण हैं। यूरोप और अमरीका मे जो आधुनिकता फैली है, उसका असली कारण वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्राथमिकता और

प्रधान है। यह दृष्टि उद्योग और टेक्नालोजी से उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि उद्योग और टेक्नालोजी ही उसके परिणाम हैं। यूरोप और अमरीका का सबसे बड़ा सामान वैज्ञानिक दृष्टि है, निस्पृह होकर सत्य को खोजने की तत्परता है। और इस खोज के पथ में श्रद्धा, विश्वास, परम्परा और धर्म, किसी भी बाधा को बुद्धि सहने को तैयार नहीं है। आधुनिक मनुष्य के बारे में सामान्य कल्पना यह है कि वह अपने चिन्तन में निर्मम और निर्भीक होता है। जो बात बुद्धि की पकड़ में नहीं आती, उसे सच्चा मनुष्य स्वीकार नहीं करता और जो बातें बुद्धि से सही दिखायी देती हैं, उनकी वह खुली घोषणा करता है, भले ही उनसे ईश्वरता, धार्मिक विश्वास अथवा किसी परम्परा का खंडन क्यों न होता हो।

जहाँ तक औद्योगीकरण और जटिल अर्थव्यवस्था का प्रश्न है, ये चीजें यूरोप और अमरीका में भी पिछले दो सौ वर्षों में ही बढ़ी हैं। किन्तु आधुनिकता के साथ जो वैचारिक और सांस्कृतिक क्रान्ति लिपटी हुई है, उससे मिलते-जुलते आन्दोलन भारत में कम-से-कम तीन-चार उठे हैं। पहले बुद्ध के समय में, फिर कबीर के समय में और तब उन्नीसवीं सदी में, जब भारत और यूरोप के बीच सम्पर्क बढ़ा। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के विरुद्ध बुद्ध ने विद्रोह का प्रचार किया था, जाति-प्रथा के बुद्ध विरोधी थे और मनुष्य को वे जन्मना नहीं, कर्मणा श्रेष्ठ या अधम मानते थे। नारियों को भिक्षुणी होने का अधिकार देकर उन्होंने यह बताया था कि मोक्ष केवल पुरुषों के ही निमित्त नहीं है, उसकी अधिकारिणी नारियाँ भी हो सकती हैं। किन्तु बुद्ध में आधुनिकता से बेमेल बात यह थी कि वे निवृत्तिवादी थे और गृहस्थी के धर्म से भिक्षु-धर्म को श्रेष्ठ समझते थे। इसी प्रकार कबीर ने भी अपने समय में बड़ी भारी वैचारिक क्रान्ति की और लोगों के मन को नवीन बनाने का प्रयास किया। बुद्ध के समान कबीर से भी निवृत्ति-मार्ग को प्रोत्साहन मिला। इसमें कोई सन्देह नहीं कि निवृत्ति मनुष्य के ऊर्ध्व विकास का सूचक है, किन्तु वैज्ञानिक संस्कार से जनमी हुई आधुनिकता का ऐसे विकास में कोई विश्वास नहीं है।

बुद्ध के पहले भारत में संस्कृति की एक ही धारा बहती थी, जिसे हम वैदिक संस्कृति के नाम से जानते हैं। किन्तु बुद्ध के आविर्भाव के बाद से इस देश में संस्कृति की दो धाराएँ बहने लगीं। पहली धारा संस्कृति की वह मातृधारा है, जो वर्णाश्रम का समर्थन करती है, जाति-प्रथा को कायम रखना चाहती है, शूद्रों को ऊपर उठने देना नहीं चाहती, छुआछूत में विश्वास करती है और अन्य धर्मों और संस्कृतियों से बचकर जीना चाहती है। दूसरी धारा वह है, जो बुद्ध के कमण्डलु से निकली है। यह धारा वृहत् मानवता की धारा है। जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद में यह धारा भी उसी दृढ़ता से विश्वास करती है जिस दृढ़ता के साथ वैदिक-धर्म उसमें विश्वास करता है। किन्तु, यह धारा वर्णाश्रम-धर्म के विरुद्ध है, जात-पाँत को यह नहीं मानती, छुआछूत को वह अधर्म समझती है, शूद्रों और दलितों के लिए

उसके भीतर खास पक्षपात है तथा अन्य धर्मों और संस्कृतियों से उसे द्वेष नहीं है, वह उनके प्रति पूर्ण रूप से सहनशील है।

पहली धारा के आदि ऋषि मनु, उसके दार्शनिक कपिल, कणाद और शंकराचार्य तथा उसके कवि वाल्मीकि, तुलसी, कम्बन और पोतन्ना हैं। वर्तमान युग मे उस धारा के प्रतीक महामना मदनमोहन मालवीय हुए है। और दूसरी धारा के आदि ऋषि गौतम बुद्ध, उसके दार्शनिक वसुबन्धु और नागार्जुन तथा उसके कवि अश्वघोष, सरहपा, लहपा, कबीर, नानक और वेमना हुए है। आधुनिक युग मे इस धारा के अनेक लक्षण महात्मा गांधी मे प्रकट हुए थे। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, पुरानी धारा खिसककर नयी धारा के पास पहुँचती जा रही है। इसीलिए इन दो धाराओ के बीच पहले जो दूरी थी, वह दूरी मालवीय और गांधी के बीच दिखायी नहीं देती।

जिस धारा का प्रवर्तन बुद्ध ने किया था, वह वृहत् मानवता की धारा है और भारत मे आधुनिकता के भी वही धारा करीब है। जिन लोगो पर इस धारा का अधिक प्रभाव था, उन्ही के बीच मे वे कवि और सन्त उत्पन्न हुए, जिन्होने धार्मिक कलह और विद्वेष की खुलकर निन्दा की और वैचारिक धरातल पर हिन्दू-मुस्लिम एकता का मार्ग प्रशस्त किया। कबीर, नानक, रैदास, दादू दयाल, मलूकदास, रज्जब और सुन्दरदास उन बौद्ध कवियो के वारिस है, जिन्होने बुद्ध की सामाजिक क्रान्ति की मशाल को दीप्त रखा था। बौद्ध कवि नास्तिक थे, किन्तु कबीर आदि सन्त आस्तिक हुए, यह दूसरी धारा पर पहली धारा के प्रभाव का दृष्टान्त है। इसी प्रकार, ज्यों-ज्यो समय बीतता है, हम तुलसीदास से दूर और कबीर के समीप होते जा रहे है, यह पहली धारा पर दूसरी धारा का प्रभाव है।

हिन्दू धर्म जब इस्लाम के सम्पर्क मे आया, तब पहले वे लोग उत्पन्न हुए, जो निर्गुणवादी थे। जैसे कबीर, नानक, रैदास आदि। इसी प्रकार हिन्दू धर्म जब ईसाइयत के सम्पर्क मे आया, तब भी पहले ब्राह्मसमाजी, प्रार्थनासमाजी और आर्य-समाजी उत्पन्न हुए, परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द बाद को आये। उन्नीसवी सदी मे आधुनिकता का जो आन्दोलन उठा, उसकी ओर भारत अच्छी गति से बढना चाहता था। किन्तु, दो कारणो से वह ठिठक गया। एक तो यह कि आधुनिकता के प्रतीक अंग्रेज थे और अंग्रेजो पर जनता को शका थी, अतएव आधुनिकता भी शका की वस्तु बन गयी। और दूसरा कारण यह हुआ कि कलकत्ते के जो नौजवान अंग्रेजी पढकर तैयार हुए, उनके आचरण में उच्छृंखलता दिखायी पड़ी। अतएव जनता का मन आधुनिकता से बिदक गया।

स्वराज्य के बाद से आधुनिकता की हवा फिर जरा तेज होकर बहने लगी है और फिर ऐसे लोग सामने आने लगे हैं, जो आधुनिकता का विरोध करते हैं। सोचने की बात है कि भारत आधुनिकता का विरोध क्यो करना चाहता है अथवा

यहाँ तक करना चाहता है। क्या भारतवर्ष को उद्योग नहीं चाहिए, साक्षरता नहीं चाहिए, प्रतिमुंड होने वाली अधिक आय नहीं चाहिए? अथवा क्या आज भी हम अन्धविश्वासी बने ही रहेंगे और परलोक की चिन्ता में लोक को खोते ही जायेंगे? मेरा ख्याल है, भारत उद्योग भी चाहता है, साक्षरता भी चाहता है, प्रति मुंड पीछे होने वाली अधिक आय भी चाहता है और वह अब यह भी मान गया है कि जाति-प्रथा झूठी चीज है, अस्पृश्यता पुण्य नहीं, पाप है तथा समाज में आगे बढ़ने की छूट सभी को एक समान मिलनी चाहिए। किन्तु, एक बात है, जिसे भारत का मन मानना नहीं चाहता। विज्ञान ने तो ईश्वर के अस्तित्व अथवा अदृश्य वास्तविकता का खंडन नहीं किया, लेकिन विज्ञान के प्रभाव से एक धारणा पैदा हो गयी है कि सत्य वहीं तक है, जहाँ तक विज्ञान उसे देख सका है। जो लोक विज्ञान की पहुँच से परे है, वह काल्पनिक है, असत्य है। भारत इस धारणा को ग्रहण करने को तैयार नहीं है।

अदृश्य के प्रति आस्था और परलोक के अस्तित्व में विश्वास, ये भारतीय सृष्टि-बोध की रीढ़ हैं। मूल में यही विश्वास भारत का अटल, मौलिक विश्वास रहा है और भारत में धर्म और नैतिकता का विकास इसी विश्वास के अधीन हुआ है। नीत्से ने एक बार यह घोषणा की थी कि ईश्वर की मृत्यु हो गयी। फिर उसने अपनी इस सूक्ति की व्याप्तियों पर विचार किया और कहा कि ईश्वर की मृत्यु बहुत बड़ी घटना है। इस घटना की बराबरी मनुष्य-जाति तभी कर सकती है, जब उसका एक-एक व्यक्ति खुद ईश्वर बन जाय। अर्थात् ईश्वर और मनुष्य के बीच जो मूल्य फैले हुए हैं, उन्हें ईश्वर की मृत्यु के बाद भी कायम रहना चाहिए। इन मूल्यों की महिमा अलबेयर कामू भी समझते थे, अतएव उन्होंने कहा था, "आज मनुष्य के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि वह ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास किये बिना सन्त हो सकता है या नहीं।" भारत का अनुभव है कि आदमी ईश्वर को माने बिना भी सन्त हो सकता है। बुद्ध ईश्वर को नहीं मानते थे, किन्तु, वे बहुत बड़े सन्त थे। महावीर ईश्वर को नहीं मानते थे, किन्तु, वे महान साधु थे। किन्तु, ईश्वर को न मानने पर भी बुद्ध और महावीर परलोक में विश्वास करते थे, जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद को मानते थे। मेरा ख्याल है, विज्ञान धर्म का विरोधी नहीं है। जब भी आदमी विकास के शिखर पर होता है, वह विज्ञान और धर्म, दोनों की आराधना करता है। अदृश्य वास्तविकता में उसका विश्वास कायम रहा, तो भारत आधुनिक होकर भी भारत ही रहेगा।

पुरुषार्थ-चतुष्टय में से आधुनिकता धर्म और मोक्ष की उपेक्षा करती है। उसका सारा जोर अर्थ और काम पर है। भारत की कमजोरी यह है कि वह अर्थ और काम को धर्म नहीं, आपद्धर्म समझता है। हमें अपने इस विश्वास का संशोधन करना होगा और यह मानकर चलना होगा कि जब भारत के इतिहास का स्वर्ण-

काल था, भारतवासी धर्म और मोक्ष के ही समान अर्थ और काम को भी अपने पुरुषार्थ का प्रेरक अंग समझते थे।

आधुनिकता का वरण किये बिना भारत का कोई भविष्य नहीं है, यह बात मैं जोर से कहना चाहता हूँ। किन्तु, आधुनिकता के प्रचार के लिए बेचैन रहने वालों से मेरा यह भी निवेदन है कि कोई खेल इसलिए मत खेलिये कि वह विदेशों में कहीं खेला जा रहा है, कोई काम इसलिए मत कीजिये कि वह विदेशों में किया जा रहा है। बल्कि अपनी आधुनिक बुद्धि का प्रयोग भारत की अवस्था पर कीजिये और तब देखिये कि आधुनिक बनने का भारत का स्वाभाविक मार्ग क्या है। इस प्रयोग से आधुनिकता का जो रूप निखरेगा, वह भारत के परम अनुकूल होगा। तभी भारत आधुनिक भी होगा और वह भारत भी रहेगा।

साहित्य में आधुनिक बोध

सामाजिक पृष्ठभूमि

अपने समग्र इतिहास मे दुनिया जिस रफ्तार से बदलती आयी थी, उससे कही तेजी के साथ वह पिछले सौ वर्षों मे बदली है। और इस परिवर्तन का सबसे प्रत्यक्ष एव दर्शनीय प्रमाण नगरो की सख्या, महत्त्व और उनके आकार का विकास है। नगर पहले भी होते थे, किन्तु, उस समय नगरो और ग्रामो की नैतिकता और सस्कृति एक थी। लेकिन, पिछले सौ वर्षों मे नगरो के भीतर से अनेक महानगर उत्पन्न हो गये और वर्त्तमान सभ्यता की जो भी विशिष्टताएँ हैं, वे महानगर उनके प्रमुख केन्द्र हो गये। अब महानगरो की सभ्यता और शहरो तथा देहातो की सभ्यता के बीच काफी चौड़ी दरार पड़ गयी है। आधुनिक बोध इन्ही महानगरो मे बसनेवाले मनीषियो का दृष्टिबोध है, जो ग्रामो और छोटे शहरो मे रहनेवालो की समझ मे कठिनाई से आता है।

विज्ञान और टेकनोलॉजी के प्रयोग से मनुष्य अपने सुख, सुविधा और मनोरजन का जो विस्तार कर सकता था, वह उसने महानगरो मे किया है। ससार के उद्योगो और व्यवसायो के मुख्य केन्द्र महानगरो मे हैं। बड़े-बड़े विश्वविद्यालय महानगरो मे अवस्थित हैं। सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन, नाटक, ओपरा और बैले के सर्वश्रेष्ठ केन्द्र महानगरो मे मिलते हैं। ससदो और सरकारो के मुख्य केन्द्र महानगरो मे है। श्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाएँ महानगरो से निकलती है। अच्छे प्रकाशको के मुख्य कार्यालय महानगरो मे हैं। बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाएँ महानगरो मे होती हैं। इसीलिए, राजनीतिज्ञ, विज्ञानवेत्ता, चितक, लेखक, कवि और कलाकार अधिकतर महानगरों मे बस गये हैं। ससार से तात्पर्य अब, असल मे, दुनिया के पाँच-सात महानगरो से है। जो मत इन पाँच-सात महानगरो मे मान्य होता है, वही मत अब मानवता का मत समझा जाता है। लडाइयाँ इन पाँच-सात महानगरो के षड्यत्र और द्वेष से उत्पन्न होती हैं। शान्ति का नारा भी उन्ही महानगरो की क्लान्ति का

उच्छ्वास है। वैज्ञानिक उन्नति से उत्पन्न सुविधाओं के भागीदार धीरे-धीरे देहात भी होते जाते हैं। किन्तु, देहात अब भी देहात हैं। दुनिया देहातों से केवल खाने के लिए अन्न और लड़ाइयों में कटवाने के लिए नौजवान मर्द चाहती है। देहात की और कोई बात नगरवालों को पसन्द नहीं है।

रूप तो अब देहातों के भी बदलने लगे हैं। जहाँ छोटी-छोटी बस्तियाँ थीं, वहाँ अब कल-कारखानों से भरे नगर खड़े हो रहे हैं। रेडियो का थोड़ा-बहुत प्रचार गाँवों में भी है। बिजली के तार देहातों में भी दौड़ने लगे हैं और देहातों में भी ठाकुरबाड़ी से ज्यादा भीड़ अब सिनेमा-भवनों में लगने लगी है। लेकिन, फिर भी देहातों का पुराना मन अभी मरा नहीं है। ईश्वर वहाँ अब भी अदृश्य अवलंब के रूप में जीवित है। प्रेम वहाँ अब भी मनुष्य की किसी गंभीर और गोपन भावना का नाम है तथा मृत्यु को अब भी देहात के लोग मरणोत्तर जीवन का द्वार समझते हैं। और नारी के प्रति ग्रामों में अब भी यह भाव है कि वह रक्षणीय है तथा संतति-निरोध की शिक्षा ग्रामों में आज भी अच्छी नहीं समझी जाती है।

किन्तु, महानगरों का मन बहुत दूर तक परिवर्तित हो चुका है। विज्ञान और टेकनालॉजी का आधार लेकर उठनेवाली सभ्यता ने अपने विशिष्ट प्रतिनिधियों का जमाव महानगरों में किया है। इनमें से जो अत्यधिक आधुनिक हैं, वे मानते हैं कि नीत्से ने जब ईश्वर की मृत्यु की घोषणा की, तब वह पागलपन में नहीं बोल रहा था। किन्तु, आधुनिकता की दौड़ में जो लोग कुछ नीचे रह गये हैं, वे भी नास्तिक नहीं, तो संदेहवादी जरूर हैं। प्रेम इनकी दृष्टि में कोई उदात्त भावना नहीं है। वह रुधिर का एक अंधा वेग है, मन का एक अनवधान विकार है। वह दोस्ती का एक तरीका है। वह इन्द्रिय-तर्पण का एक माध्यम है, जिसे भ्रमवश आध्यात्मिक समझकर पहले के भावुक कवियों ने ढेर-की-ढेर कविताएँ लिखी थीं। प्रेम आँखों की मटकी है, प्रेम क्षण-भर की शारीरिक आवश्यकता का नाम है, प्रेम नये-नये चारागाहों की कौतुकी खोज है, प्रेम बोतल की फेंकी हुई काग है, प्रेम एक प्याली कॉफी या चाय है।

और मृत्यु? जिन्दगी की घात में लगी रहनेवाली यह खौफनाक चीज बहुत ही खराब है। यह सर्वनाश का नाम है। वह भय है, आतंक है, परमाणु बम और नेपाम बम है। मृत्यु घातक रोग है, जो हमें भय दिखाकर जीने को लाचार करती है। मृत्यु नहीं चाहती कि हम उसकी याद करें, उसे अपने ध्यान में रखें। दुनिया में मौज-मजे की बहुत-सी चीजें हैं। हम इनके असली मजे तभी उठा सकते हैं, जब मृत्यु को हम भूल जायें।

दुनिया का जो भाग आधुनिकता के आलोक से सबसे अधिक आलोकित है, वहाँ परिवार समाज की सबसे पवित्र इकाई नहीं है। विवाह का आधार दंपति

का व्रत नहीं, आपसी रजामन्दी है। नारियाँ विशेष रूप से रक्षणीय नहीं हैं, इसीलिए, वे पूजा की भी अधिकारिणी नहीं हैं। धर्म के व्यर्थ हो जाने से मूल्यों की दीर्घा में जो जगह खाली हुई, उस पर सौन्दर्यबोध ने आसन जमा लिया और सौन्दर्यबोध का मुखौटा पहनकर दुनिया के मन पर शासन, असल में, कामदेव कर रहा है। व्यावहारिक मनुष्य के लिए ईमानदारी कोई अनिवार्य गुण नहीं है। प्रेम भावुक लोगों की बीमारी का नाम है। सिधाई, सचाई, वीरता और बलिदान उतने अच्छे नहीं है, जितनी अच्छी चालाकी हो सकती है। और जब सभी लोग चालाकी से ही जीते है, तब वीरता और बलिदान बेवकूफी की बातें नहीं, तो और क्या हैं ? मूल्यों का पचड़ा बेकार है। सबसे बड़ा मूल्य वह है, जिसके सहारे गाड़ी चलती रहती है।

महानगरों मे जो सभ्यता फैली है, वह छिछली और हृदयहीन है। लोगो के पारस्परिक मिलन के अवसर तो बहुत हो गये हैं, मगर, इस मिलन मे हार्दिकता नहीं होती, मानवीय सम्बन्धों का घनत्व नहीं आ पाता। दफ्तरों, ट्रामो, बसों, रेलो, सिनेमाघरो, सभाओ और कारखानो मे आदमी हर समय भीड़ मे ही रहता है, मगर, इस भीड़ के बीच वह अकेला होता है। मनुष्य के लिए मनुष्य के भीतर पहले जो माया, ममता और सहानुभूति के भाव थे, वे अब लापता होते जा रहे हैं। देशो की पारस्परिक दूरी घट गयी है, लेकिन, आदमी और आदमी के बीच की दूरी बढ़ती जा रही है।

आरम्भ से ही, कामिनी और कंचन पार्थिव जीवन के सब से बड़े प्रलोभन रहे थे। किन्तु, मनुष्य ने, अपने अनुभवों के आधार पर, कुछ मूल्यों की रचना करके इस प्रलोभन पर अंकुश लगा दिया था। जब तक यह अंकुश बलवान था, कामिनी और कंचन को लेकर खलबली तब भी मचती थी, लेकिन, उस समय फिर भी वह सँभाल मे थी। लेकिन, अब इस अंकुश मे कोई जोर नहीं है। अतएव, सभी लोग काम और कंचन की ओर बेरोक हो कर दौड़ने लगे हैं। और चूँकि कंचन के बल से काम भी उपलब्ध किया जा सकता है, इसलिए, सभ्यता की मुख्य चालना कंचन बन गया है। निःस्वार्थ सेवा की प्रेरणा महानगरों मे भी है, किन्तु ऐसे समाजसेवी अब हँसी के पात्र हैं। हर जगह समाज-सेवा का भी ध्येय कोई-न-कोई लाभ है। औरतें सेवा का बहाना करती हैं, ध्येय उसका कमेटियों का नेतृत्व करना होता है। डॉक्टर अपने चेलो को खास दवाइयों का प्रचार सिखाते है और बराबर छिपे-छिपे व्यवसायियों का पैसा खाते हैं। प्रोफेसरों का ध्यान ज्ञान की सेवा पर कम, चेयर पर अधिक रहता है। छात्र प्रश्नो को पहले से ही जानना चाहते हैं। मार्शल एड के अधीन मिली हुई विटामिन यूरोप मे काले बाजार मे बिकती है। सब लोग रुपयों के पीछे दौड़ रहे है, क्योंकि कौड़ियों के मोल सब कुछ खरीदा जा सकता है। विज्ञापनो के चक्कर मे आकर हर आदमी अपनी जरूरतें बढ़ाता है

और हर आदमी आसानी से रुपये बनाने के लिए बेचैन है। बहुत-से मर्द क्लबों में जाने के पहले सिंगार करते हैं और औरतें रसोई बनाने का काम भूलती जा रही है।

हिरोशिमा और नागासाकी पर जब से बम बरसे, आदमी का आत्मविश्वास और भी डोल गया। डारविन ने मनुष्य से उसका देवत्व छीन लिया था। मार्क्स ने उसकी सदाशयता की जड खोद डाली थी और फ्रायड ने यह सिद्ध कर दिखाया था कि आदमी का अपने को बुद्धिवादी समझना बिलकुल फालतू बात है। किन्तु, हिरोशिमा और नागासाकी ने आदमी को यह कहकर और भी आतंकित कर दिया कि मृत्यु के झपट्टे मे वह कभी भी आ सकता है, क्योंकि ज्ञान के फल को उसने पकने के पूर्व ही चख लिया है। कोई आश्चर्य नही कि आदमी अपने जन्म को आकस्मिक घटना मानता है और चूँकि अत्यन्त संहारक शस्त्रों से भरे हुए संसार में कोई भी आदमी अपनी लम्बी आयु के लिए कोई योजना नही बना सकता, इसलिए वह क्षण के भीतर जीने को मजबूर है। जो व्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षण को इस भाव से देखता है कि जो मिल गया, उसे ठीक से भोग लो, न जानें, कब परमाणु बम बरस पड़ें और मानवता का ध्वस हो जाय, वह उस व्यक्ति के समान आचरण नही कर सकता, जो जीवन को काफी लम्बा मानता था और युद्ध को सर्वध्वंस का कारण नही समझता था।

यह घबराहट की स्थिति है, सभ्यता की निस्सहायता का दृश्य है। सभ्यता पर पहले जब-जब विपत्ति आयी थी, लेखकों और कवियों ने डटकर उसका मुकाबिला किया था। किन्तु, इस बार वे सिकुड़कर अपने मनोवैज्ञानिक निकुंज मे समा गये हैं। इस विशृंखलता के बीच लेखक और कवि नये सिरे से जीवन के अर्थ की तलाश करना चाहते हैं, जीने के औचित्य और सार्थकता का संधान पाना चाहते हैं और इस बात पर अचरज करते हैं कि संसार के ये करोड़-करोड लोग कैसे खुश हैं, क्या सोचकर सतुष्ट हैं। और संसार के करोड़-करोड लोगो की समझ में लेखकों और कवियों की बात नही आती, क्योंकि उनकी दृष्टि बहिर्मुखी हो गयी है। लेखकों और कवियो ने ही तो इन करोड-करोड़ लोगो को बताया था कि ईश्वर की मृत्यु हो गयी और परलोक ढहकर नेस्तनाबूद हो गया है। तो फिर जो कुछ सामने है, उसे जी भरकर भोग लेना ही धर्म है। और, सचमुच ही, लोग भीतर की आँखें बन्द किये सुख की तलाश में बेतहाशा दौड रहे हैं।

इसलिए हमारा ख्याल है कि साहित्य में, साधारणत. जिसे आधुनिक बोध कहा जाता है, वह कोई शाश्वत मूल्य नही है। मूल्य शायद वह है ही नहीं। मूल्यों के विघटन से उत्पन्न वह एक दृष्टि है, जिसमें घबराहट, निराशा, शंका, त्रास और असुरक्षा के भाव है। अतएव, आधुनिक बोध की सारी व्याप्तियाँ ऐसी नही हैं, जो आँख मूँदकर स्वीकार कर ली जायँ।

दूसरी कठिनाई यह है कि आधुनिक बोध की जो भावना यूरोप और अमरीका में प्रचलित है, वह उस भावना से भिन्न है, जिसका प्रचलन साम्यवादी देशों में हुआ है। पश्चिमी देशों के आधुनिक कलाकार अपने को जीवन के दायित्व से मुक्त समझते हैं। समाज के प्रति वे अपनी जवाबदेही को स्वीकार नहीं करते, न वे अपनी शक्ति का उपयोग सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए करना चाहते हैं। उनकी सारी आस्था शब्दों के प्रति है, शैली और भाषा के प्रति है। जैसे नृत्य, संगीत और चित्र प्रचार के माध्यम नहीं हैं, उसी प्रकार, वे कविता को भी प्रचार का माध्यम बनाने के विरुद्ध हैं।

शैली के प्रति पक्षपात

कविता की गिनती, कम-से-कम, भारत में कलाओं में नहीं की जाती थी। कविता विद्या है। कलाएँ उपविद्याओं में गिनी जाती हैं। लेकिन, व्यवहार में कविता के साथ यहाँ भी लगभग वही सलूक किया जाता था, जो कलाओं के साथ किया जाना चाहिए। फिर भी, कविता उतना ही काम नहीं करती थी, जितना काम संगीत, नृत्य अथवा चित्र करते थे। कलाओं से कविता का मुख्य भेद यह था कि संगीत और चित्र के द्वारा सोचने का काम नहीं किया जाता था, किन्तु चिंतन और विचार का काम कविता बहुत दूर तक कर सकती थी। और यही कारण था कि कविता अन्य सभी कलाओं से श्रेष्ठ समझी जाती थी, क्योंकि उसमें सौन्दर्य भी होता था और जीवन को प्रेरित करनेवाली कल्पना और विचार भी होते थे। इसलिए कविता कला होते हुए भी उपविद्याओं में नहीं, विद्याओं में गिनी जाने के योग्य थी।

किन्तु, पिछले सौ वर्षों से यूरोप और अमरीका के कवि कविता को विद्याओं की श्रेणी से हटाकर उपविद्याओं की श्रेणी में ले जाने का प्रयास करते रहे हैं। वे कविता को ज्ञान, विचार और उपदेश से मुक्त रखना चाहते हैं। कविता का विकास, शुद्ध कला के रूप में करने का परिणाम यह हुआ है कि कवियों की सारी चिन्ता इस एक ध्येय पर केन्द्रित हो रही है कि वे कैसे कहते हैं। "क्या और क्यों" पर सोचते-सोचते दर्शनों का जन्म हुआ था। "कैसे" पर सोचते-सोचते विज्ञान उत्पन्न हुआ। कथ्य दर्शन है, शैली विज्ञान है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जब से शैली को प्रमुखता मिलने लगी, कविता दर्शन से हट कर विज्ञान के समीप जाने लगी है। और तब भी यह सच है कि कविता का मित्र विज्ञान नहीं, दर्शन है तथा कविता का शत्रु भी दर्शन नहीं, विज्ञान है।

शैली की महिमा पहले के भी कवि समझते थे। किन्तु, शैली पहले साध्य नहीं, साधन समझी जाती थी। साध्य कुछ और था, जिसका, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, संबंध जीवन की समस्याओं से पड़ता था। किन्तु, आज के कवि कथ्य को कोई भी महत्त्व

नहीं देते। वे समझते हैं कि यदि शैली मौजूद है, तो कविता हवा की लहर पर भी तैयार की जा सकती है, अगर कला मौजूद है तो महल बिना खभों के भी खडे किये जा सकते हैं। इसीलिए, आधुनिक बोध की माँग है कि रचना में प्रवृत्त लेखक और कवि अपने कथ्य की चिंता न करें, चिन्ता हमेशा उन्हें इस बात की करनी चाहिए कि उनकी लिखाई कैसी हो रही है, उनका शैली-तंत्र कितना कसा हुआ, ताजा और चुस्त है।

साहित्य मे आधुनिक बोध के अन्यतम प्रवर्तक फ्रांसीसी कवि मलार्मे ने कहा था कि "कृति का विषय बाहर से आता है। अतएव, जो भी कलाकार अपना ध्यान विषय पर केन्द्रित करता है, वह शुद्ध कलाकार नही है। शुद्ध कलाकार तो वही हो सकता है, जिसका सारा ध्यान कृति पर केन्द्रित है, भाषा, शैली और शब्दों मे सन्निविष्ट है। जो भी उपन्यासकार जीवन का फोटो ले रहा है, वास्तविकता का अनुकरण कर रहा है, वह दूषित है, क्योंकि वह अपने ग्रन्थ की सेवा न करके एक ऐसे काम में लगा हुआ है, जो कृति के लिए बिलकुल बाह्य है। इसी प्रकार, जो कवि अपनी कृति पर ध्यानस्थ न होकर अपनी आत्मा की आवाज सुनने में व्यस्त है, वह शुद्ध कलाकार नही है।"

पश्चिमी देशों के कलाकार, मुख्यतः शैली के कलाकार हैं। वे पाठकों को गुदगुदाते हैं, चौंकाते हैं, उनकी शान्ति भंग करते है, किन्तु उन्हें ज्ञान नहीं देते, उपदेश नही देते, क्योंकि ज्ञानदान और उपदेशवाद की गंध आने से कला सोद्देश्य हो जाती है और सोद्देश्यता कला का सबसे बड़ा अपराध है।

आधुनिक बोध का एक अन्य प्रखर लक्षण यह है कि कलाकार कर्म के प्रति अपनी प्रतिबद्धता स्वीकार नही करता। कर्म का त्याग सोद्देश्यता के त्याग से उत्पन्न हुआ है अथवा सोद्देश्यता का त्याग कर्म के त्याग का परिणाम है, यह स्थिति बहुत स्पष्ट नही है। केवल अनुमान होता है कि उद्देश्य का त्याग पहले किया गया, कर्म का त्याग उसके बाद आया है। ज्ञान और उपदेश कर्म के आदि सोपान हैं। जो लेखक ज्ञान या उपदेश की ओर झुकता है, निश्चय ही, वह समाज को किसी कर्म की ओर प्रेरित करना चाहता है। ज्ञान और उपदेश का एक दोष यह भी है कि वे विषय को अरूप या गौण होने नहीं देते। अतएव, शैली की महिमा बढ़ाने के लिए, यह जरूरी हो गया कि विषय गौण कर दिये जायें। इसलिए, ज्ञान और उपदेश यानी सोद्देश्यता का त्याग आवश्यक समझा गया। उसके बाद कर्म कलाकार के क्षेत्र से स्वयं ही निष्कासित हो गया। कुछ दिनों तक कलाकार अपनी लज्जा छिपाने को यह कहते रहे कि मनुष्य की हैसियत से कर्म करना हमारा भी कर्त्तव्य है, किन्तु, कवि की हैसियत से कर्म को हम कोई प्रेरणा नही देंगे। इसी जोश में स्पेनिश युद्ध के समय कई लेखक और कवि, सैनिक की हैसियत से, युद्ध में लडने को गये थे। किन्तु, अब उनके भीतर से ऐसे लोग भी निकल आये हैं, जो यह कहते

है कि धर्म हमारा कला की दृष्टि है। इसके अलावा और कोई धर्म हमारे पक्ष में नहीं पड़ता है।

धर्म से यहाँ तात्पर्य खाने-पीने और रोजी कमाने से नहीं है, बल्कि, तात्पर्य राष्ट्रीयता से है, युद्ध से है, समाज को परिवर्तित करने वाले आन्दोलनों से है। पश्चिमी देशों के कलाकार इन धर्मों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता स्वीकार नहीं करते। वे केवल कवि होकर जीना चाहते हैं। कहते हैं, लड़ाई के समय किसी देश का एक युवक कलाकार निश्चिन्त होकर उद्यान में घूम रहा था। ऐसे में किसी ने उससे पूछ दिया, "क्यों भई, आप युद्ध का कोई काम नहीं करेंगे?" कलाकार ने उत्तर दिया, "नहीं। मैं तो खुद वह वस्तु हूँ, जिसकी रक्षा के लिए युद्ध लड़ा जा रहा है।"

युद्ध और राष्ट्रीयता

युद्ध और राष्ट्रीयता एक ही तस्वीर के दो पहलू हैं। राष्ट्रों के बीच जब तनाव आता है, तब उसमें युद्ध उत्पन्न होते हैं और युद्ध आरम्भ होने के बाद राष्ट्रीयता की शक्ति में और भी वृद्धि हो जाती है। युद्ध और राष्ट्रीयता, दोनों के दोनों राजनीति हैं। जब एक देश किसी दूसरे देश पर अधिकार जमाता है, तब गुलाम देश के लोगों में शासक देश के विरुद्ध घृणा का ज्वार उमड़ता है। घृणा के इसी ज्वार से राष्ट्रीयता उत्पन्न होती है। राष्ट्रीयता लगभग पशु-धर्म है। भैंस अपने खूँटे पर किसी दूसरी भैंस को आने देना नहीं चाहती। यही भाव विकसित और परिमार्जित होकर मनुष्यों के बीच राष्ट्रीयता कहलाता है।

जैसे राष्ट्रीयता राजनीति का एक रूप है, उसी प्रकार युद्ध भी राजनीति है। राजनीति जब सफेद लिबास में होती है, हम उसे शान्ति कहते हैं। जब उसके कपड़े लहू से लाल हो जाते हैं, वह युद्ध कहलाती है। युद्धों से होने वाले विनाश से आजिज आकर आधुनिक मनुष्य इस निष्कर्ष पर जा पहुँचा है कि युद्ध का उन्मूलन होना बहुत आवश्यक है। इसीलिए, वह राष्ट्रीयता का भी अब विरोध करता है। जब तक राष्ट्रीयता है, दुनिया देशों में बँटी रहेगी। जब तक राष्ट्रीयता है, युद्ध होते रहेंगे। अन्तर्राष्ट्रीयता और शान्ति, ये एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। जब तक शान्ति स्थापित नहीं होती, अन्तर्राष्ट्रीयता का स्वप्न सिर्फ हवा में मँडराता रहेगा और जब तक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन मजबूत नहीं होते, देशों के आपसी युद्ध चलते रहेंगे।

किन्तु, शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीयता का यह स्वप्न कब तक आकार ग्रहण करेगा अथवा वह आकार ग्रहण करेगा भी या नहीं, यह बात दृढ़ता के साथ नहीं कही जा सकती। धरती पर आज एक भी देश ऐसा नहीं है, जो पूरे अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय हो। प्रत्येक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थन आज भी वहीं तक करता है, जहाँ तक यह समर्थन उसके राष्ट्रीय हितों के अनुकूल है। साम्यवाद से यह आशा जरूर थी कि जो देश विचारधारा की दृष्टि से एक समान हैं, वे परस्पर एक रहेंगे।

किन्तु, रूस और चीन का आपसी संबंध जिस पैमाने पर खराब हुआ है, उसे देखते हुए यह आशा भी क्षीण हो चली है कि विचारधारा राष्ट्रीयता को मार सकती है। गाँधीजी ने कहा था कि समूचे देश के हित में जैसे एक या दो प्रान्तों का मिट जाना पुण्य का कार्य है, वैसे ही, अगर जरूरत पड़े, तो सारे संसार के हित में एक या दो देशों को नक्शे से गायब होने को तैयार रहना चाहिए। किन्तु भारत पर जब चीन ने आक्रमण किया, गाँधी जी की यह सीख भुला देने योग्य साबित हुई। नक्शे से मिटने की बात तो अलग, कोई देश एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण के लिए भी तैयार नहीं है। खुद गाँधी, बुद्ध और अशोक के देश में यह माँग की जा रही है कि परमाणु-बम बनाने का काम भारत को भी करना चाहिए।

कविता और उपन्यास राष्ट्रीय हो सकते हैं। इतिहास राष्ट्रीय हो सकता है। किन्तु विज्ञान कभी भी राष्ट्रीय नहीं होता। वह स्वभाव से ही अन्तर्राष्ट्रीय है। विज्ञान की सभी बातें सभी देशों में एक समान सही समझी जाती हैं। विज्ञान के क्षेत्र में जो बात एक देश में सही और दूसरे देश में गलत मानी जाती है, वह बात अभी विज्ञान के धरातल पर नहीं पहुँची है।

विज्ञान से अन्तर्राष्ट्रीयता में बहुत बड़ी वृद्धि हुई है। विशेषतः, परमाणु-भंजन से जो शक्ति निःसृत हुई, उसकी घातकता का संसार पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि सभी देशों में युद्ध के विरुद्ध आवाजें एक साथ उठने लगीं। परमाणु बमों के भय से घबरा कर संसार के विभिन्न देश जितने समीप आये थे, उतने समीप वे पहले और कभी नहीं आये थे। इस अर्थ में परमाणु और हाइड्रोजन बमों ने मनुष्यता का बहुत बड़ा उपकार किया था। किन्तु, अब उसी भय से एक दूसरा भय उत्पन्न हो गया है और हर एक देश चाहता है कि, अगर वह बना सके, तो परमाणु बम उसे जरूर बनाना चाहिए। इस प्रकार, जिस चीज ने अन्तर्राष्ट्रीयता को प्रेरणा दी थी, वही अब राष्ट्रीयता को उत्तेजित कर रही है। इन्सानियत की बीमारी सर्वत्र एक ही प्रकार की है। दर्द की दवा पायी, दर्द लादवा पाया।

मानवता की जितनी भी बड़ी समस्याएँ हैं, वे एक समान कठिन हैं। विज्ञान का विकास अन्तिम बिन्दु तक होना चाहिए, यह सभी लोग मानते हैं। किन्तु विज्ञान जब हाइड्रोजन बम का आविष्कार करता है, तब मनुष्य घबराने लगता है, क्योंकि उसका चरित्र इतना विकसित नहीं हुआ है कि वह ऐसे बमों का उपयोग अपने विनाश के लिए न करे। मनुष्य इस कल्पना पर आसक्त हो गया है कि अन्तर्राष्ट्रीयता ही मनुष्य का परम धर्म है। किन्तु, यहाँ भी ज्ञान आगे है, चरित्र पीछे छूट गया है। आदमी का चरित्र इतना उदार नहीं हुआ है कि लड़ाई के समय शत्रु के पक्ष में बोलने वाले अपने राष्ट्रबन्धु को वह देशद्रोही न समझे। मनुष्य ने काफी सोचकर यह तय किया है कि कविता को दर्शन, धर्म, इतिहास, नैतिकता और समाजशास्त्र की गुलामी में न रहकर केवल कविता होना चाहिए। किन्तु,

उसकी भावना इतनी विकसित नहीं हुई है कि वह ऐसी कविताओं का रस ले स
आधुनिक मनुष्य की पीडा उस मनुष्य की पीडा है, जो फल तो फुनगी पर का ग्र
चाहता है, किन्तु वहाँ तक छलांग लगाने की शक्ति से वह हीन है। प्रत्येक क्षेत
आदमी का अपराध एक ही दिखायी देता है। यानी उसकी बुद्धि अति विकास
है, जबकि उसकी भावना और चरित्र, दोनो के दोनो पिछड़े हुए है। वह ल
नही चाहता, उसका दुश्मन भी लडाई नही चाहता, मगर, लाचार होकर दोनो
लडना पडता है। वह राष्ट्रीयता को दोष समझता है, किन्तु युद्ध के समय राष्ट्
हुए बिना वह अपनी रक्षा भी नही कर सकता। वह विज्ञान का विकास बहुत
तक करना चाहता है, किन्तु, विज्ञान की जितनी ही प्रगति होती है, मनुष्य
सर्वनाश की सभावना उतनी ही बढती जाती है।

एक समय था, जब युद्ध स्वर्ग का द्वार समझा जाता था। लडाई मे जा
जो लोग अपनी जान देते थे, उनके बारे मे कल्पना यह की जाती थी कि वे स्व
चले गये है। "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्षमे महीम्" गीता का
वाक्य ऐसी ही धारणा से निकला था। किन्तु, अब यह धारणा सदिग्ध हो गयी है
तब भी युद्ध होते है, नौजवान मारे जाते हैं, और जनता की सामान्य धारणा य
होती है कि वे युवक शहीद हुए हैं और उन्हे स्वर्ग प्राप्त हुआ है। यही नहीं, यु
के समर्थन मे कविताएँ भी लिखी जाती है और वे, क्षण भर को, समाज को हि
भी डालती हैं। किन्तु, मनीषी-वर्ग जनता और जन-कवियो की इस भावुकता प
मन-ही-मन हँसता है, गरचे, जन-भावना के रोष के भय से वह अपने मन की ब
जोर से नही बोल सकता।

युद्ध के समय सैनिको के बलिदान की प्रशसा मे, शत्रुओ की निन्दा मे अ
जनता के साहस को उछालने के लिए जो ढेर-की-ढेर कविताएँ लिखी जाती
उनकी एक पृष्ठ-भूमि मनोवैज्ञानिक होती है। अँधेरे और सुनसान रास्ते से चल
वाले मुसाफिर को जब भय लगता है, वह जोर-जोर से गाने लगता है। इसी प्रका
जनता जब किसी युद्ध से भयभीत होती है, वह उग्र-उन्मादक कविताओ की मां
करने लगती है और जिस युद्ध से जितना ही अधिक आतक फैलता है, उस युद्ध
समय उतनी ही अधिक कविताएँ लिखी जाती है। चूंकि चीनी आक्रमण से फैल
वाला आतक बहुत बड़ा था, इसलिए भारत मे उस समय कविताएँ भी अधि
लिखी गयी थी। और चूँकि पाकिस्तानी आक्रमण से जनता के भीतर आतक क
फैला था, इसलिए, उस युद्ध के समय कविताएँ भी कुछ कम लिखी गयी। कहते है
पाकिस्तानी युद्ध के समय पाकिस्तान मे लिखी गयी कविताएँ बेशुमार थी औ
उस सिलसिले मे पाकिस्तान के उन कवियो ने भी अपना ब्रह्मचर्य तोड दिय
जिनका व्रत था कि युद्ध के समर्थन मे वे कभी कुछ नही लिखेंगे। इससे शि
निकलती है कि पाकिस्तानी युद्ध के समय घबराहट हिन्दुस्तान मे नहीं, पाकिस्ता

में थी।

मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि का एक स्वरूप यह भी है कि युद्ध के समय हमारे अन्तर्मन में यह ग्लानि समायी रहती है कि हम सुरक्षित इसलिए हैं कि हमारी रक्षा करने को और लोग मोर्चे पर खतरे झेल रहे हैं, अपनी जान और जिस्म की कुर्बानी दे रहे हैं। अपने अन्तर्मन की इस अपराध-भावना को छिपाने के लिए हम देश-भक्ति का बहाना बना कर युद्ध की जोरदार कविताएँ रचते हैं और मंच पर जोर-जोर से उनका पाठ करते हैं। युवकों को मृत्यु के मुख में झोंककर खुद आराम करने में जो एक मनोवैज्ञानिक दंश है, जो शरमा और ग्लानि की भावना है, उसे छिपाने अथवा उससे पलायन करने के काम में देशभक्तिपूर्ण कविताएँ जनता को सहायता पहुँचाती हैं।

युद्ध और राष्ट्रीयता के विरुद्ध आधुनिक मनुष्य की भावना कैसे-कैसे बढ़ी है, इसका प्रमाण हम यूरोप और अमरीका की उन कविताओं में पाते हैं, जो प्रथम और द्वितीय महायुद्धों के समय लिखी गयी थीं। और उनमें भी अधिक प्रामाणिकता हम उन कविताओं को मानते हैं, जिनकी रचना उन कवियों ने की थी, जो युद्ध के मोर्चों पर खुद पंक्तियों में खड़े थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय युद्ध के साथ राष्ट्रीयता की थोड़ी भावना जरूर लिपटी हुई थी। अंग्रेजी में युद्ध-काव्य के अग्रणी कवि विलफ्रेड ओएन हुए हैं, जिनका देहान्त प्रथम विश्वयुद्ध में, लड़ाई के बीच, हुआ था। वे युद्ध की कविता को करुणा की कविता मानते थे।

मेरा गेय युद्ध है और युद्ध की करुणा।
कवित्व का वास उसकी करुणा में है।

किन्तु, अंग्रेज सैनिकों की कुर्बानी का दर्द उन्हें कुछ ज्यादा महसूस होता था—

रँगे हुए अधरों में वह लाली कहाँ,
जो उन धब्बेदार पत्थरों में है,
जिन्हें मरते हुए अंग्रेज सिपाही ने
चूमा था?

और यही भाव रूपर्ट ब्रुक की भी कविताओं में मिलता है।

अगर मैं मर जाऊँ,
तो मेरे बारे में केवल इतना सोचना
कि विदेश की युद्ध-भूमि में कहीं एक कोना है,
जो हमेशा इंग्लैंड रहेगा।

इन दोनों उद्धरणों से यह संकेत मिलता है कि प्रथम विश्वयुद्ध के समय राष्ट्रीयता स्पष्ट निन्दा की वस्तु नहीं थी और शहीदों के प्रति कवियों की सहानु-

भूति यह सोचकर बढ जाती थी कि शहीद उनके राष्ट्रबन्धु थे। किन्तु, युद्ध मे जो एक प्रकार की बेहूदगी है, एक प्रकार की विवेकहीनता और अन्धा जोश है, उसकी ओर कवियों की दृष्टि प्रथम विश्व-युद्ध के समय ही जाने लगी थी। और उसी युद्ध के समय कवियों को यह भी दिखायी देने लगा था कि मनुष्य का जो ऊँचा धर्म है, उसका निर्वाह युद्ध में नही किया जा सकता।

मसखरे चूहे,
अगर वे जान गये
कि तुम्हारे हृदय में सार्वभौम प्रेम है,
तो वे तुम्हें गोली मार देंगे।

—आइज़क रोज़नबर्ग

खुशनसीब वे हैं,
जो कल्पना की शक्ति को खो चुके हैं,
क्योंकि बारूद वे काफी आसानी से ढो सकेंगे।
सारी चीज़ों को लाल देखकर
उनकी आँखों का भय निकल गया है।
अब लहू के रंग से उन्हें तकलीफ नहीं पहुँचेगी।

—विलफ्रेड ओएन

इस युद्ध में बहुत-से ऐसे लोग
भी मरे हैं,
जिन्हें किसी विचारधारा, देश
या ईश्वर से प्यार नहीं था।

—हर्बर्ट रीड

यह अनुभूति भी प्रथम विश्व-युद्ध के समय ही उत्पन्न हो गयी थी कि लडाई लगाने वाले लोग लडाई मे नही मरते। लडाई बूढे राजनीतिज्ञ लगाते हैं, लेकिन मरना नौजवानो को पडता है। और राष्ट्रीयता बूढे राजनीतिज्ञो का ढोंग है।

टाँगों या आँखों के जाने की अहमियत नहीं है।
शराब पियो, भूल जाओ और खुश रहो।
लोग तुम्हें पागल नहीं समझेंगे।
वे कहेंगे, इसने देश के लिए लड़ाई लड़ी है।
तुम्हारे बारे में उन्हें और कोई चिंता नहीं होगी।

—सिजफ्रीड सैसून

जिससे मैं लड़ता हूँ,
उससे मुझे नफरत नहीं है।

जिसकी हिफाजत के लिए मैं पहरा देता हूँ,
उससे मुझे कोई प्यार नहीं है।

—डब्ल्यू० बी० येट्स

युद्ध केवल ध्वंस का विस्फोट है। वह जीवन के लिए नही, मृत्यु के लिए लड़ा जाता है। युद्ध के समय वचता कौन है? जो शरीर से नही मरता, वह नैतिक दृष्टि से निष्प्राण हो जाता है। युद्ध से निर्णय किसी बात का नही होता। निर्णय का हर काम फिर नये सिरे से शुरू करना पडता है। तो क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे युद्ध जीवन नही, मृत्यु के खिलाफ लडा जाय? यह राष्ट्रीयता नही, अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रेरणा है और यह प्रेरणा भी प्रथम युद्ध के समय कवियो के भीतर जग गयी थी।

हम इस उम्मीद में हँसते थे
कि एक दिन अच्छे लोग आयेंगे
और इससे भी बडी लड़ाई शुरू करेंगे;
जब सिपाही गर्व से कहेगा,
मैं आदमियों के खिलाफ झंडों के लिए नहीं,
मौत के खिलाफ जिन्दगी के लिए लड़ता हूँ।

—विलफ्रेड ओएन

मनुष्यता की पीडा द्वन्द्व की पीडा है, द्विधाओ की पीडा है। मन से मनुष्य जो कुछ चाहता है, तन से वह उसके योग्य नही है। युद्ध घृणित कार्य है, युद्ध विभीषिका है, युद्ध मानवता के पतन का दृश्य है। किन्तु, उससे बचा कैसे जाय? जिस शिखर पर हम पहुँचना चाहते हैं, उसके रास्ते मे अनेक हिंसक जन्तु हैं, जो तीर्थ-यात्रियो पर अकारण गुर्राते हैं, अकारण उन पर आक्रमण करते हैं। तो यात्री क्या करे? अगर वह अहिंसक रहता है, तो हिंसक जन्तु उसे खा जायेंगे। अगर वह हिंसा करता हैं, तो फिर युद्ध के अवरोध का क्या उपाय है?

प्रथम विश्व-युद्ध के समय युद्ध के विरुद्ध जो अनुभूतियाँ उत्पन्न हुईं, वे कवियों की कल्पना और विचारकों के मस्तिष्क मे प्रश्रय पाती और पलती आ रही थी कि अचानक जर्मनी में हिटलर सर्वेसर्वा बन बैठा। फिर स्पेन मे अधिनायकवाद और प्रजातन्त्र के आदर्श के बीच युद्ध छिड गया। उस समय कई ऐसे लेखक और कवि भी युद्ध में सम्मिलित हुए, जो युद्ध के खिलाफ सोचते चले आये थे। इस विवशता-पूर्ण स्थिति की झाँकी हमें डब्ल्यू० एच० ऑडेन की स्पेन पर लिखी कविता में मिलती है :

सितारे डूब गये;
जीवधारी उन्हें अब नहीं देखेंगे।
हम अपनी आयु के साथ अकेले रह गये हैं।

समय बहुत थोड़ा है
और जो हार गये हैं,
इतिहास उनके साथ हमदर्दी भले ही दिखाये,
मगर वह उन्हें क्षमा नहीं करेगा।

इतिहास किसी भी पराजित जाति को क्षमा नही करता। जो देश सभ्यता, जरूरत से ज्यादा, सीख लेते है, वे बार-बार हराये जाते हैं, बार-बार गुलाम बनाये जाते है और इतिहास हर बार तालियाँ उनकी ओर से बजाता है, जो शान्ति और न्याय का गला घोटकर विजय प्राप्त करते है।

तब फिर किया क्या जाय ? उत्तर आधुनिक बोध के पास नही है। वह आज भी परम्परा के ही पास है। वह परम्परा कृष्ण-चेतना की परम्परा थी, जिसमे आततायियो का वध और दलन निषिद्ध कर्म नही था। आधुनिक बोध हैमलेट और फौस्ट की चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। वह चिन्तन को अधिक, कर्म को कम महत्त्व देता है अथवा कर्म के पास जाने को वह बिलकुल ही तैयार नहीं है। ससार के सामने जो असाध्य समस्याएँ खडी हैं, उनका समाधान आधुनिक बोध चिन्तन से करना चाहता है, अथवा इन समस्याओ के समाधान की उसे कोई चिन्ता ही नही है। वह शुद्ध कला-बोध का आन्दोलन है और शुद्ध कलाकार के लिए यह बिलकुल स्वाभाविक है कि घर मे जब आग लगी हो, तब भी वह पानी ढोने का काम न करके केवल आग की लपटों का वर्णन करता रहे। क्योकि कथ्य कुछ भी नही है, जो कुछ है, वह शैली है, जो कुछ हैं, वे शब्द हैं और कलाकारो की आस्था शब्दो को निवेदित होनी चाहिए।

लेकिन ऐसी तटस्थ नीति का निर्वाह वे ही कर सकते हैं, जो कर्म के भीतर अथवा उसके पास नही गये हैं। जो कवि द्वितीय विश्वयुद्ध मे सम्मिलित हुए, वे इतने तटस्थ नही थे। उनके भीतर जो अनुभूतियाँ उत्पन्न हुई, वे तटस्थ नही थी। राजनीतिज्ञों के प्रति अविश्वास और राष्ट्र-भावना के प्रति सन्देह इन कवियो मे भी था, किन्तु, वे किसी ठोस चीज की तलाश में थे। उनकी चिन्ता का मुख्य विषय यह था कि क्या हमारी कुर्बानी इस बार भी बेकार होने वाली है। क्या इस बार भी हमारे रक्त का फायदा राजनीतिज्ञ ही उठा ले जायेंगे ?

चार वर्षों मे हम वह कुछ सीख गये,
जिसे हमारे बाप-दादों ने नहीं सीखा था।

—वीचिंग

जब शरीर मरता है,
शरीर से लगी जुएँ मर जाती हैं,
पेट में पड़े कीड़े मर जाते हैं।

मगर जुओं के मारने का
    कोई और बढ़िया तरीका निकालना चाहिए,
जिससे जुओं के मारने के लिए
    शरीर को मारना न पड़े।

—वीविंग

मैं इंग्लैंड के लिए जलता हूँ,
    जैसे यह युद्ध जल रहा है।
मैं इस उम्मीद में जलता हूँ
    कि जब शान्ति का समय आये,
लोग हमारी कुर्बानी से मुनाफाखोरी न करें।

—स्टीवार्ट

चूँकि तुम सीधे-सादे आदमी हो,
    दयालु और रोमांटिक जीव हो,
तुमने नेताओं का भरोसा कर लिया,
    उनकी बातों में विश्वास कर लिया।
चूँकि तुम सीधे-सादे और विनम्र हो,
    तुम्हें दूसरी बार भी धोखा खाना पड़ा।
इसलिए, अब लड़ो,
    बहादुर बनो,
    बेरहम और बेदर्द बनो,
    हत्यारे बनो
    और मर्दानगी से अपने काम को अंजाम दो।
अनावश्यक युद्ध में लड़ना पाप है।
बहादुरी पाप है, विजय भी पाप है।
लेकिन हारना उससे भी बड़ा पाप होगा।

—जेफर्स

युद्ध जिस बेबसी के कारण लड़ा जाता है, यह कविता उस बेबसी का पूरा प्रतिनिधित्व करती है। आदमी युद्ध का पीछा नहीं करता, युद्ध ही मनुष्य का पीछा करता है। और जब वह हमें अपने दाँतों से पकड़ लेता है, हम अपनी जान बचाने को उससे संघर्ष करते हैं। आत्मरक्षा-परक युद्ध को परम्परा धर्म-युद्ध मानती थी। किन्तु, आधुनिक-बोध ऐसे युद्ध से भी भागना चाहता है। वह उसकी जिम्मेदारी राजनीतिज्ञों पर डालकर निश्चिन्त हो जाना चाहता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय सेना में भर्ती होने वाले नौजवानों को सम्बोधित करके हर्बर्ट रीड ने लिखा था—

हम वहाँ गये थे, जहाँ तुम अब जा रहे हो।
हम वह सब दे चुके हैं, जो तुम्हें अब देना पड़ेगा।
—यानी अपना दिमाग, लोहू और पसीना।
विजय हमारी पराजय निकली।
सत्ता उन्हीं के हाथों में रह गयी,
जिन्होंने उसका दुरुपयोग किया था।
और नयी पीढ़ी को यह विरासत मिली
कि आग की जो चिनगारियाँ
हमारे पाँवों के पास राख हो गयी थीं,
उन्हे वह बुहारे और साफ करे।

—हर्बर्ट रीड

और मैकिलश ने मरे हुए सिपाही की ओर से कहा था—

वे कहते हैं, हम तो अपनी जान दे चुके।
मगर जब तक लड़ाई खत्म नहीं होती,
हम यह कैसे समझें
कि हमारी मौत से तुम्हें क्या मिला ?
वे कहते हैं, हम नहीं जानते
कि हमारी जिन्दगी और मौत का
कोई अर्थ था या नहीं।
अपनी मौत मै तुम्हें सौंपता हूँ।
ऐसा करना कि मेरी मौत में
कोई मानी आ जाय
मेरी मौत युद्ध के अन्त को समर्पित करना,
सच्ची शान्ति को समर्पित करना।
ऐसा करना कि मेरी मौत में
कोई मानी आ जाय !

कर्म से दूर बैठे तटस्थ कवि की आवाज एक तरह की होती है, कर्म के अतराल में खड़े कवि की आवाज दूसरी तरह की होती है। कर्म से अलग बैठा हुआ कवि यह कहकर अपने को सन्तोष देता है कि लड़ाई दो-चार साल तक ही चलती है। मनुष्य का औसत जीवन शान्ति का जीवन होता है। अतएव, लड़ाई को भूलकर रगों की दुनिया मे मन को भुलाये रहना ही ठीक है। मगर, लडाई जब आती है, शान्ति की सदियो की कमाई को क्षण-मात्र मे ध्वस्त कर देती है। उनसे अच्छे वे कवि थे, जिन्हें युद्ध मे जाना पडा था। उन्होंने युद्ध की विभीषिका का वर्णन करके मनुष्य को उसका सही रूप दिखाया और ससार भर के राजनीतिज्ञो को यह सलाह

दी कि किसी प्रकार युद्ध के रोकने का उपाय सोचो। युद्ध के कवियों ने जो कुछ लिखा, वह रंगीन पोलेपन की कविता नहीं है। उसमें अर्थ है, भावाकुलता है, कर्म की प्रेरणा और मानवता के लिए निश्चित सन्देश है। कविता जब कर्म के अंतराल से फूटती है, तब वह ऐसी ही प्रेरणामयी होती है। आधुनिक बोध की मुख्य बाधा यह है कि उसे ऐसे कलाकार नहीं मिल रहे हैं, जिनका कर्मठ जीवन के बीच प्रमुख स्थान हो।

वैयक्तिकता और साम्यवाद

किन्तु, साम्यवादी देशों की मान्यता पश्चिम के आधुनिक बोध के ठीक विपरीत है। इलियट ने लिखा है कि कवि की आवाजें तीन प्रकार की होती हैं। एक आवाज वह होती है, जब कवि अपने आपको सम्बोधित करता है। दूसरी आवाज यह है, जब वह दूसरों को सम्बोधित करता है। और तीसरी आवाज वह है, जब उसे नाटक के पात्रों के मुख से बोलना पड़ता है। पश्चिम के कवियों का स्वर मुख्यतः, अपने-आपको सम्बोधित करने वाला स्वर है और साम्यवादी देशों में कवि प्रायः दूसरों को सम्बोधित करके लिखते हैं। यह ठीक है कि दूसरों को सम्बोधित कविताएँ पश्चिम में भी लिखी जा रही हैं और अपने आपको सम्बोधित करनेवाले कवि अब रूस में भी पैदा होने लगे हैं, किन्तु, आधुनिक बोध के जो दो रूप संसार में आज प्रचलित हैं, उनके बीच यह भी एक भेद है।

जब तक साम्यवाद का आविर्भाव नहीं हुआ था, संसार भर के साहित्य का स्वभाव एक था, परम्परा एक थी। तीन प्रकार की आवाजें काव्य और नाटक में तब भी चलती थी, किन्तु, उस समय कवि जब अपने आपको सम्बोधित करता था, तब भी वह यह ध्यान रखता था कि उसकी कृतियाँ केवल उसी के लिए नहीं हैं, उन्हें और लोग भी पढ़ेंगे। किन्तु, पश्चिम के कलाकार अब इस चिन्ता को कोई महत्त्व नहीं देते। यह चिन्ता अगर प्रमुखता से कहीं काम करती है, तो साम्यवादी देशों के कलाकारों में काम करती है।

इस पर से यह अनुमान, स्वभावतः ही, उत्पन्न होता है कि स्थिति यदि ऐसी है, तो साम्यवादी कला परम्परा का पालन मात्र है। वह उन अनुभूतियों पर कोई ध्यान नहीं देती, जो अनुभूतियाँ बोदलेयर, मलार्मे, रेम्बू, रिल्के, काफ्का—यहाँ तक कि रूसी कवि ब्लाक और रूसी उपन्यासकार दोस्तावास्की में उत्पन्न हुई थीं। साम्यवादी कला उस दर्द को नहीं समझती, जिसकी ऐंठन और टीस से घबराकर पश्चिम में कला ने अन्तर्मुखी यात्रा आरम्भ की है। साम्यवाद को कला की उस उमंग पर भी सन्देह है, जिसकी प्रेरणा में भरकर वह वैयक्तिकता के उच्चतम शिखर पर चढ़ना चाहती है अथवा उसके गहनतम अन्धकार में विचरण करना चाहती है।

चित्रवाद और अभिव्यंजनावाद से साम्यवाद को परहेज नही है, क्योकि इन आन्दोलनो का सम्बन्ध कारीगरी और पच्चीकारी से पड़ता है और साम्यवादी कला अगर अपने को आकर्षक बनाना चाहे, तो कारीगरी की जरूरत उसे कम नही, कुछ ज्यादा ही महसूस होगी। किन्तु, प्रतीकवाद साम्यवाद को तनिक भी पसन्द नही है, क्योंकि उसका सम्बन्ध केवल कारीगरी से न होकर, दृष्टि की अन्तर्भेदिनी शक्ति से भी है, अध्यात्म और धर्म से भी है। साम्यवाद कलात्मक आन्दोलनों के उन सारे उपकरणो को स्वीकार करता है, जिनसे अभिव्यक्ति की वेधकता मे वृद्धि होती है, कारीगरी मे खूबसूरती आती है और साहित्य अधिक सुन्दर तैयार होता है। किन्तु, वह कला की ऐसी सभी व्याप्तियो के विरुद्ध है, जिनसे वैयक्तिकता की वृद्धि होती हो, मनुष्य के भीतर आध्यात्मिक तृषा को प्रोत्साहन मिलता हो और आदमी का ध्यान उस लोक की ओर जाता हो, जो धर्म और रहस्यवाद का लोक है।

पश्चिमी आधुनिक-बोध ने नैतिकता के पारपरीण मूल्यो के विघटन की प्रक्रिया को तेज कर दिया है, किन्तु, साम्यवाद, एक हद तक, पवित्रतावाद का समर्थन करता है। वह अपने कलाकारो को ऐसा साहित्य लिखने की छूट नही दे सकता, जिसके प्रचार से नैतिक मूल्य ढीले होते हैं तथा समाज मे कदाचार की वृद्धि होती है।

पश्चिम के आधुनिकतावादी वैयक्तिकता की साधना मे इतनी दूर चले गये हैं कि अब वहाँ वैयक्तिक बहक भी कला की वस्तु मानी जाती है। किन्तु, साम्यवादी देशो मे ऐसी बहक के लिए छूट नही है। साम्यवादी देशो के कलाकार एक खास विचारधारा के अधीन काम करते है, जिसका नाम 'समाजवादी वस्तुवाद' चलता है। अभिव्यक्ति की सफाई और पूर्णता वे भी चाहते है, किन्तु, अभिव्यक्ति, शैली, रूपक और बिम्ब, ये उनकी दृष्टि मे साहित्य के साध्य नही, साधन हैं। शैली की सारी खूबियाँ इसलिए ग्राह्य हैं कि उनसे कथ्य के निरूपण मे सहायता मिलती है।

साम्यवादी कलाकार केवल अपने लिए नही लिखते। उनका उद्देश्य पाठको को साथ ले चलना है। साहित्य का सृजन वे इस आशय से करते है कि उससे समाजवादी व्यवस्था मजबूत होगी यानी लोग उससे यह प्रेरणा लेंगे कि समाज के सुख से अलग अपने वैयक्तिक सुख की खोज करना पाप है। जितना सुख समाज के औसत सदस्य को प्राप्त है, हमे उससे अधिक सुख पाने का नैतिक अधिकार नही है। जो लोग साम्यवाद के विरुद्ध है, साम्यवादी लेखक उनके विरोध मे भी साहित्य तैयार करते हैं। प्रचार का सिद्धान्त पाश्चात्य देशों मे निन्दित हो गया है। लेकिन, साम्यवादी लेखक और कवि प्रचार को निन्दित सिद्धान्त नही मानते।

साम्यवाद वैसे अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है और राष्ट्रीयता के विरुद्ध उसका प्रचार काफी जोर से चलता है। किन्तु, रूस पर जब हिटलर ने आक्रमण किया, तब

रूसी वीर पूरे राष्ट्रीय जोश के साथ शत्रु के खिलाफ लड़े थे और उस समय रूस के कवियो ने उन्मादक राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखी थी।

पाश्चात्य देशों के चिन्तको का ख्याल है कि साम्यवादी देशो के लेखक और कवि ठीक उसी तरह से लिखना नही चाहते, जैसे सरकार के भय से उन्हें लिखना पड़ता है। पूरे वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के बिना कोई भी लेखक या कवि वह चीज नहीं लिख सकता, जिसमे उसकी अपनी आत्मा का पूरा सन्तोष हो। लेकिन चूँकि यह स्वातन्त्र्य साम्यवादी देशों के कलाकारों को सुलभ नही है, इसलिए वे जो कुछ लिखते हैं, उसमें बहुधा उनकी आत्मा की आवाज नही होती, वह बेगार की लिखाई होती है।

कई बार रूस के लेखकों ने इस आक्षेप का उत्तर यह कहकर दिया है कि लिखने के मामले में हम पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं और जो कुछ हम लिखते हैं, अपने ही विश्वास के अनुसार लिखते हैं। किन्तु, इस उत्तर से पाश्चात्य देशो के मनीषियो को सन्तोष नही होता। वे मानते हैं कि यह उत्तर भी किसी भय के ही अधीन दिया जा रहा है।

किन्तु, ऐसा भी नही है कि साहित्य मे सामाजिक भावनाओ को महत्त्व केवल साम्यवादी देशों मे दिया जाता है और वैयक्तिक भावना वाले कवि केवल पाश्चात्य देशो में जन्म लेते हैं। इग्लैण्ड के डब्ल्यू० एच० ऑडेन और जर्मनी के बर्टोल्ट ब्रेक्ट ऐसे कवि हैं, जो रूस मे पैदा होते, तो वहाँ भी खप सकते थे। इसी प्रकार, रूस के दो कवि पास्तरनाक और एब्लेशेंकू ऐसे कवि हैं, जो पाश्चात्य देशों की आत्मा के बहुत समीप हैं। आर्थर कोसलर, जो पहले साम्यवादी थे और अब साम्यवाद के विरोधी हो गये हैं, प्रचार उसी सिद्धान्त का करते है, जो पाश्चात्य साहित्यकारों का स्वीकृत सिद्धान्त है। किन्तु, कोसलर की अपनी रचनाएँ सोद्देश्य ही होती हैं।

इसी प्रकार, जार्ज आरवेल ने जो कुछ लिखा, उसमे प्रचार स्पष्ट रूप से विद्यमान था, गरचे सिद्धान्त के स्तर पर वे भी यही मानते थे कि साहित्यकार की वैयक्तिकता अगर स्वतन्त्र नही रही, तो उच्च साहित्य का सृजन वह नही कर पायेगा। हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन के अधिनायकवादी तन्त्र से मनुष्य की वैयक्तिकता जिस भयानक रूप से आहत हुई थी, उससे आरवेल को भारी चोट पहुँची थी और उन्होंने साहित्यकारो को चेतावनी दी थी कि मानवता पर होने वाले इस भयानक अत्याचार का विरोध अगर साहित्यिकों ने प्रतिबद्ध होकर नही किया, तो मानवता के सारे ऊँचे मूल्य विनष्ट हो जायेंगे और मानव-समाज, जो अपनी वैयक्तिकता पर इतना नाज करता है, केवल भैंसों का बथान (एनिमल फार्म) बनकर रह जायेगा, जहाँ भैंसें दूध देती हैं और चरवाहे उसे पीकर भैंसो पर राज करते हैं।

प्रचार को आरवेल भी साहित्य मे स्थापित करना चाहते थे, किन्तु, इसे वे

धर्म नहीं, आपद्धर्म मानते थे। युद्ध धर्म नहीं, आपद्धर्म है। जो देश युद्ध लड़ना नहीं चाहते, युद्ध उनके ऊपर भी थोपे जाते हैं, क्योंकि शान्ति की स्थापना दो के मेल के बिना नहीं हो सकती, लेकिन युद्ध एक पक्ष भी शुरू कर सकता है। और जब युद्ध आ गया, तो फिर उसे भी लड़ना ही पड़ता है, जो युद्ध से सच्चे मन से घृणा करता है। आरवेल की चिन्तन-पद्धति यह थी कि साहित्य सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र कला है और साहित्यिकों का व्यक्तित्व बिलकुल अनूठी, बिलकुल अद्वितीय वस्तु है। किन्तु, अधिनायकवादी तन्त्र ने अनेक देशों में साहित्यकारों के व्यक्तित्व पर अपने टैंक खड़ा दिये हैं और उनकी योजना है कि धीरे-धीरे यह तन्त्र सारे संसार में फैल जाय और संसार भर के लेखक, कवि और कलाकार, उसी प्रकार राजनीति की दासता स्वीकार कर लें, जैसे साम्यवादी देशों के साहित्यकारों ने स्वीकार कर ली है। यह बहुत बड़ा खतरा है और उससे जूझने को संसार भर के साहित्यिकों को सजग हो जाना चाहिए।

यह बहुत कुछ वैसा ही दृश्य है, जैसा दृश्य हम भारत में देख रहे हैं। भारत बुद्ध, अशोक और गांधी का देश है। अहिंसा को वह परम धर्म मानता है। किन्तु, हिंसक पड़ोसियों के आतंक से विचलित होकर उसे भी अब वही कुछ करना पड़ रहा है, जो काम वे देश करते हैं, जिनको अहिंसा की महिमा में कोई भी विश्वास नहीं है।

प्रचार साहित्य का गुण नहीं, अवगुण है। किन्तु, प्रचार को साहित्य का गुण समझनेवाले लोग प्रचार को साहित्य का अवगुण समझनेवालों पर इस जोर से चढ़े आ रहे हैं कि शुद्धतावादियों के शिविर में हड़कंप मच गया है और दुश्मन से भिड़ने के लिए वे भी उस शस्त्र का उपयोग करने की मजबूरी महसूस करने लगे हैं, जो विरोधियों का शस्त्र है। बुद्ध और गांधी की रक्षा बुद्ध और गांधी के मार्ग से करना असंभव प्रतीत हुआ। अतएव, भारतवासी बुद्ध और गांधी की रक्षा के लिए बुद्ध और गांधी से भाग खड़े हुए। जार्ज आरवेल का भी विचार था कि साहित्य की शुद्धता की रक्षा शुद्धतावादी उपायों से नहीं की जा सकती। उसकी रक्षा के लिए हमें प्रचार का अवलंब लेना चाहिए। क्योंकि अधिनायकवादी अभियान को रोकने में अगर मानवता असफल हो गयी, तो नुकसानी उनकी नहीं होगी, जो खेती, नौकरी या व्यवसाय से अपनी जीविका चलाते हैं, बल्कि मानवता की पराजय का दण्ड उन्हें भोगना पड़ेगा, जो बौद्धिक शक्तियों तथा चिंतन की स्वतन्त्रता को अपना असली असबाब समझते हैं।

किन्तु, आरवेल और कोसलर के विचारों का लेखकों और कवियों पर कोई खास प्रभाव पड़ा हो, ऐसा नहीं दीखता है। शुद्धतावादी लेखक और कवि शुद्धता की मीनार से उतरने को तैयार नहीं हैं। उनकी मान्यता यह हो गयी है कि लड़ाई ठंढी हो या गर्म, वह साहित्य के लड़ने की चीज नहीं है। साहित्य तो खुद वह

दा है, जिसकी रक्षा के लिए युद्ध लड़े जाते हैं। कर्म साहित्यकार के लिए वर्जित है और जिन विचारों से कर्म को प्रेरणा मिलती है, वे विचार भी साहित्य के लिए वर्जनीय हैं। साहित्यकार को न तो सैनिक बनना चाहिए, न उन्हें प्रेरित करना उसका काम है, जो सैनिक बनकर युद्ध-क्षेत्र मे जा रहे हैं।

किन्तु, शुद्धतावाद को खतरा क्या केवल साम्यवाद से है ? जिन कारणों से साम्यवाद लेखकों का नियंत्रण करने मे सफल हुआ है, वे कारण सभी देशों मे मौजूद हैं और जहाँ वे आज मौजूद नहीं हैं, वहाँ वे कल मौजूद हो जायँगे। शुद्धतावाद को असली खतरा यंत्र से है, असली खतरा विज्ञान से है। विज्ञान ने राज्य के हाथ में अपरिमित शक्तियाँ रख दी हैं। इन शक्तियों के सुनियोजित प्रयोग से राजा जैसा भी नागरिक चाहे, तैयार कर सकता है, जैसी भी विचारधारा चाहे, फैला सकता है और अगर राज्य के आशय बुरे हो जायँ, तो वह साहित्यकारों की अकड़ को भी तोड़ सकता है।

यह सत्य है कि मनीषी मानवता के अकल्याण की बात तभी तक नहीं सोचता, जब तक वह स्वावलंबी और स्वाधीन है। जभी वह सरकार या सेठ का आश्रय लेता है, यह सभावना उत्पन्न हो जाती है कि सारी बातें वह मानवता के कल्याण के लिए नहीं सोचेगा। उसे कुछ ऐसी बातें भी सोचनी पड़ सकती हैं, जिनसे सेठ या सरकार का तो भला होगा, मगर उनसे सारी मानवता का भला नहीं होगा। सेठों या सरकारों के साथ मिलकर काम करने मे वैसे कोई बुराई नहीं दीखती। बुराई तब पैदा होती है, जब सरकार के आशय बुरे हो जाते हैं। प्रत्येक सरकार अपनी प्रजा का कल्याण और शत्रु-देश का अकल्याण चाहती है। इसीलिए, वैज्ञानिक जब से सरकारों के अधीन काम करने लगे हैं, तब से बड़ी ईजादें घातक शक्तियों की हुई हैं। जब वे सरकार से अलग अपने घरों मे काम करते थे, तब तक आविष्कार उन्होंने ग्रामोफोन का किया था, दूरभाष और वायुयान का किया था, बिजली और भाप की ताकतों का किया था। किन्तु, जब से वे सरकार की मुट्ठी मे गये हैं, आविष्कार उन्होंने परमाणु बम और हाइड्रोजन बम का किया है, राकेट और मिसाइल का किया है। पाप विज्ञान का नहीं है। पापी वे संस्थाएँ हैं, जो आविष्कार तो शत्रु के दमन के लिए करती हैं, लेकिन बाद को खुद भी उन्हीं आविष्कारों का शिकार हो जाती हैं।

समाज के योजनाबद्ध विकास के आदि प्रवर्तक प्लेटो थे। कवि उनकी योजना में फिट नहीं करता था। अतएव, उन्होंने सोचा था कि अपनी कल्पना के समाज में वे कवियों को स्थान नहीं देंगे। तब से प्रत्येक राजनीतिज्ञ कवियों को शंका की दृष्टि से देखता रहा है। घट-बढ कर ससार का प्रत्येक राजा कवियों से वही उम्मीद करता है, जिस उम्मीद के कारण स्टालिन बदनाम हुआ। राजनीतिज्ञों की आदत है कि लोक-मंच से अभिनन्दन वे गाँधी का करते हैं, किन्तु, दफ्तर की कुर्सी

पर जाते ही प्रयोग वे मैकियावेली का करने लगते हैं। और विज्ञान की अपरिमित शक्तियों पर अधिकार होने के कारण, आज के शासक वे सारे काम आसानी से कर सकते हैं, जिन कामों को पहले के शासक अजाम नही दे सके थे।

अधिनायकवादी व्यवस्था जितनी ही मजबूत होती जाती है, शुद्धतावादी कलाकारों का आतक उतना ही बढ़ता जाता है, उनका आत्मविश्वास उतना ही क्षीण होता जाता है। अधिनायकवादी और प्रजातत्री देशो मे मनुष्य की वैयक्तिकता पर राजनीति का दबाव जैसे-जैसे फैलता है, शुद्धतावादी कलाकार वैसे-ही-वैसे अपनी वैयक्तिकता से और भी जोर से चिपके जाते हैं। अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा की चिन्ता लेखको मे आज जितनी प्रखर है, उतनी प्रखर वह सारे इतिहास मे और कभी दिखायी नही पडी थी। सभ्यता के सभी मूल्यों मे अविश्वास की घोषणा, प्रचलित नैतिकता का मुँह चिढाने का जोश और रह-रहकर जन-रुचि को धक्के देने की प्रवृत्ति, उसी चिन्ता की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ हैं। सार्त्र ने लिखा है कि बोदलेयर पाप इसलिए भी करते थे कि वे अपने-आपको यह विश्वास दिलाना चाहते थे कि मैं स्वतन्त्र हूँ, मैं जो चाहूँ, कर सकता हूँ। आधुनिक लेखक और कवि भी बहुत-से काम केवल इस भाव से करते हैं, जिससे उन्हे विश्वास हो कि उनका व्यक्तित्व अक्षुण्ण है तथा उनकी स्वतन्त्रता की भावना इतनी प्रबल है कि वह राजा तो क्या, प्रजा की भी परवाह नही करती।

कवि के व्यक्तित्व को लेकर साम्यवादी और प्रजातत्री देशो के कलाकारो के बीच जो मतभेद है, उसे हम अतिरजित मानते है। मार्क्सवादी आलोचको की यह स्थापना गलत नही है कि राजनीति की तरह साहित्य भी समाज से प्रभावित होता है। किन्तु, जो बात मार्क्सवादी आलोचक भूल जाते हैं, वह यह है कि साहित्य पर समाज का यह प्रभाव कवियो के व्यक्तित्व के माध्यम से पडता है। समाज का जीना उसके सदस्यों का ही जीवित रहना है। जब हम यह कहते है कि समाज दु खी है, तब उसका अर्थ यही होता है कि समाज मे रहने वाले व्यक्ति दु खी हैं। इसी प्रकार, समाज का सुखी होना भी उसके व्यक्तियो का ही सुखी होना है। व्यक्तियो से अलग समाज की कोई कल्पना नहीं की जा सकती और जहाँ समाज नियत्रित किया जाता है, वहाँ भी नियंत्रण, असल मे, व्यक्तियो का ही होता है।

जैसे श्रेष्ठ कवियो मे समाज और व्यक्ति का सघर्ष भयानक रूप नही लेता, उसी प्रकार, परपरा और व्यक्ति के बीच भी श्रेष्ठ कवि सामजस्य खोज लेते हैं। कदम-कदम पर परपरा की दुहाई देना विकास की स्वाभाविक प्रगति मे अवरोध डालना है। कट्टर से कट्टर समाज के भीतर भी ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो परपरा की सीमा के अतिक्रमण की अनिवार्यता अनुभव करते हैं। युग परपरावादी हो, तब भी कवि, व्यक्ति के रूप मे, नयी अनुभूतियाँ प्राप्त करता है। ये अनुभूतियाँ परपरा के विरुद्ध पड सकती हैं, किन्तु, उनका चित्रण आवश्यक होता है। अगर ये अनुभूतियाँ

न लिखी जायँ, तो साहित्य में ताजगी नही रहेगी और स्वय कलाकार का व्यक्तित्व गतानुगतिक, एकरस और नि स्वाद हो जायगा।

वैयक्तिकता की समस्या का एक रूप यह भी है कि पुराने समय की कविताएँ उस चेतना से उपजी थी, जिसमें व्यक्ति और समाज की चेतनाएँ एकाकार थी। जब व्यक्ति और समाज की चेतना एक थी, उस समय साधारणीकरण का कार्य कवि के लिए कठिन नही होता था। किन्तु, अब वैयक्तिक चेतना समाज की चेतना से अधिक बलशालिनी हो गयी है और वह उसके दबाव को फेंककर अपनी स्वतंत्र सत्ता के साथ ऊपर आ गयी है। यही नही, अब वैयक्तिक चेतना आक्रमणकारी ढग से काम करने लगी है। परिणाम यह हुआ है कि कवि अपने भावो का साधारणीकरण या तो जान-बूझकर नही करता अथवा साधारणीकरण की प्रक्रिया उसके वश के बाहर हो गयी है। शायद पिछला विकल्प ही ज्यादा सही है। कवि की वैयक्तिक चेतना सामाजिक चेतना से इतनी विभक्त हो गयी है कि साधारणीकरण के लिए अब कही कोई आधार नही है। स्पष्ट ही, जिस देश के कवि और लेखक एक नये स्वप्न को आकार देने के लिए काम कर रहे हैं, वेअ गर आधुनिकता के इस दुर्गुण को अपनायेंगे, तो उनका उद्देश्य पूरा नही होगा। जिस साहित्य का साधारणीकरण का आधार टूटा हुआ अथवा लुप्त है, वह कभी भी जनता के बीच प्रसार नही पायेगा। साहित्य के एक अन्यतम चिंतक कॉलरिज ने कहा था, "*जिसे हम निखालिस वैयक्तिक स्थिति कहते हैं, उसे लेकर श्रेष्ठ कविता नही लिखी जाती है।*" अर्थात् जो स्थितियाँ साधारणीकरण के वृत्त मे आने से इन्कार करें, उन्हें अलिखित ही छोड देना चाहिए।

विज्ञान का प्रभाव

आधुनिक साहित्य आधुनिक इसलिए नही है कि उसके सारे-के-सारे विषय नवीन है। आधुनिक वह इसलिए है कि उसके पीछे काम करनेवाली मनोवृत्ति नवीन है, मनोदशा, मानसिकता और दृष्टि नवीन है। लेखक की दिलचस्पी विषय में न होकर उसे देखने वाली नयी दृष्टि मे है और पाठक भी उसी नवीन दृष्टि का प्रेमी होने के कारण इस साहित्य की ओर उन्मुख होता है।

लेकिन, इस नयी दृष्टि के लक्षण क्या हैं? शैली के पक्ष में इस दृष्टि का प्रधान लक्षण विज्ञान के अनुकरण का भाव है। चूँकि विज्ञान आवेशमयी भाषा का प्रयोग नही करता, नये लेखक और कवि भी आवेशमयता से बचे रहना चाहते है। चूँकि विज्ञान शब्दों के मामले मे मितव्ययी होता है, अतएव, नवलेखन भी शब्दों की मितव्ययिता बरतना चाहता है। और चूँकि विज्ञान का लक्ष्य वस्तुओ का यथातथ्य वर्णन होता है, अतएव, नये लेखक और कवि भी कल्पना की लगाम हमेशा अपने हाथ में रखते हैं और बराबर सतर्क रहते हैं कि उनका वर्णन अति-

रंजित न हो जाय। वैज्ञानिक का एक लक्षण यह भी है कि वह दूसरों को प्रभावित करने को न तो एक शब्द लिखता है, न एक शब्द बोलता है। अगर वह दूसरों पर प्रभाव जमाने की कोशिश करे तो जनता वैज्ञानिक पर सन्देह करने लगेगी। इसका प्रभाव साहित्य पर यह पड़ा है कि अब साहित्यकार भी श्रोताओं को प्रभावित करना नहीं चाहते। प्रभावित करने वाले गुण को वे "रेटारिक" कहते हैं और रेटारिक अथवा भाषणकारिता साहित्य में अब दोष मानी जाती है।

प्रभाव जमाने की चिन्ता उस कवि को होती है, जिसके सामने कोई उद्देश्य है और जिसकी ओर वह समाज को मोड़ना चाहता है। किन्तु, जिस कवि के सामने कोई भी उद्देश्य नहीं है, वह प्रभाव जमानेवाली शक्ति का उपयोग क्यों करेगा? वह अपनी अनुभूतियों के चित्र दिखाकर पाठकों की शान्ति भंग कर सके, तो इतनी उपलब्धि उसके लिए काफी है।

किन्तु, विज्ञान की एक विशेषता और है जिसका अनुकरण साहित्यकार नहीं कर रहे हैं। वह यह कि वैज्ञानिक एक शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में करता है, जब कि कविता में प्रयुक्त शब्दों से अक्सर अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं। जब तक यह नहीं होता, कविता वैज्ञानिक सुनिश्चितता का दावा नहीं कर सकती और यदि शब्दों की एकार्थक सुनिश्चितता कविता में भी आ गयी, तो फिर कविता का अस्तित्व समाप्त हो जायगा, क्योंकि तब जो कुछ होगा, विज्ञान होगा, कविता की आवश्यकता मनुष्य को नहीं रहेगी।

किन्तु, कवियों को यह चिंता जरूर है कि प्रत्येक भाव-भंगिमा के लिए एक अलग शब्द होता, तो बात बहुत अच्छी होती। माँ का प्रेम, बहन का प्रेम और सखी का प्रेम, ये सभी प्रेम एक ही नहीं हैं। किन्तु, शब्द-कोष की दरिद्रता के कारण हमें एक ही शब्द से प्रेम के अनेक रूपों को व्यंजित करना पड़ता है। यह चिंता बताती है कि कवि वैज्ञानिक सुनिश्चितता के लिए बेचैन है, किन्तु, भाषा में शब्दों की कमी होने के कारण वे लाचार हो जाते हैं। विज्ञान कविता का विरोधी शास्त्र है, इस सुपरीक्षित सिद्धान्त की ओर से नये कवियों की दृष्टि हट गयी है और वे आँख मूँदकर विज्ञान का अनुकरण उतनी दूर तक करने लगे हैं, जितनी दूर तक वह अनुकरण किया जा सकता है।

विज्ञान से निकली हुई दूसरी शिक्षा बुद्धिवाद की है, जिसका प्रभाव साहित्य पर बड़े जोर से पड़ा है। जो बात बुद्धि में नहीं समाती, उसका वर्णन साहित्य में भी नहीं किया जाना चाहिए। इस मान्यता के कारण धर्म और पुराण के रूप साहित्य में बदल गये हैं। कर्ण के रथ के चक्के अगर धरती में धँस गये थे, तो यह बात खोलकर कहनी होगी कि वहाँ दलदल था। कौरवों की सभा में यदि कृष्ण ने विराट रूप दिखाया था, तो यह बात पाठकों को समझा देनी होगी कि भगवान के विराट होने पर छतें नहीं फटी थीं, दीवारें टूटकर नहीं गिरी थीं। और कच-

देवयानी की कथा कहनी हो, तो इसका उल्लेख नही करना चाहिए कि कच ने शुक्राचार्य से संजीवनी विद्या कैसे सीखी थी। उस कहानी मे कच और देवयानी का प्रेम ही सार है।

पुरानी कविता मे शयन-कक्ष मे मणियो के दीप बलते थे और नायिकाओं को जब संकोच होता था, वे मुट्ठी भर पुष्परेणु फेंककर दीपक की ज्योति को छिपा देती थी। अब नायिकाओ को सकोच कम होता है और संकोच हो भी, तो बिजली का बटन दबाना प्रकाश से बचने का सुगम उपाय है। जैसे विज्ञान ने खोज-खोज कर उन सभी रहस्यों को रहस्यहीन कर दिया, जिन्हे देखकर पहले लोग आश्चर्य करते थे, उसी प्रकार, साहित्य के भी बहुत-से रहस्य-कुंज विज्ञान के प्रभाव से उजाड़ हो गये। अब उनका आश्रय लेकर कविताएँ नही लिखी जा सकती।

धर्म पर जो अश्रद्धा विज्ञान के प्रभाव से बढी है, उसका प्रभाव भी साहित्य पर काफी पड़ा है। ईश्वर को आलबन मानकर पहले जो प्रेम और श्रद्धा निवेदित की जाती थी, साहित्य मे अब वह मजाक की चीज है और सारे-के-सारे रहस्यवादी कवि अब बौद्धिक पगले यानी 'इनटेलेक्चुअल क्रिटीन' समझे जाते हैं। रहस्यवाद की धूमिलता साहित्य से तब भी नही मिटी, क्योकि अब उसका निवास वहाँ पडता है, जहाँ कवि किसी अनुभूति की स्पष्ट व्याख्या नही दे पाता है अथवा जहाँ भाषा असमर्थ हो जाती है अथवा जहाँ मनोविज्ञान की किसी ऐसी गहराई की बात की जाती है, जिसका वर्णन स्वभाव से ही दुष्कर कार्य है।

विद्या के रूप मे मनोविज्ञान का आविर्भाव बिल्कुल हाल की घटना है, किन्तु, प्रक्रिया के रूप मे मनोविज्ञान उतना ही प्राचीन है, जितना प्राचीन स्वयं मनुष्य है। यह वैसी ही बात है, जैसे रक्त-चाप की बीमारी पहले भी होती थी, किन्तु, उसका पता मनुष्य को नही था। इस बीमारी का नाम तब से सुनायी देने लगा, जब से रक्तचाप-मापक यंत्र का आविष्कार हुआ। मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का ज्ञान शेक्सपियर को भी था और कालिदास को भी। लेकिन, वे इस शास्त्र का नाम नही जानते थे। इस शास्त्र का जन्म उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे हुआ और बीसवी सदी मे आकर उसने इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली कि उपन्यासकार और कवि भी उसका अनुसरण करने को ललचाने लगे। प्राउस्ट और जेम्स ज्वायस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को ही शैली मानकर लिखते हैं। ज्वायस की शैली का नाम ही चेतना-प्रवाह की शैली पड गया है। और सुर्रियलिस्ट कवियों की तो साधना ही एक प्रकार से मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की साधना है।

जब तक आधुनिकता का विकास नही हुआ था, मनुष्य सृष्टि की कल्पना उस रूप मे करता था, जिस रूप मे उसकी कल्पना धर्माचार्यों, नबियों और पैगम्बरों ने की थी। यह ईसा के जन्म से एक हजार वर्ष पूर्व की बात है। ससार के सभी द्रष्टा ई० पू० से एक हजार वर्ष पूर्व ही जन्म ले चुके थे और उसी समय

मनुष्य के सृष्टि-संबंधी सभी विचार निरूपित हो चुके थे। बाद की शताब्दियों में इन्हीं विचारों का पल्लवन होता रहा है। यह सभ्यता टेक्नालॉजी से नहीं, कल्पना और विचार से बनी थी और तकनीक के अभाव में इस सभ्यता के भीतर जो रिक्तता रह गयी थी, आदमी ने आदर्शों से युक्त वातावरण तैयार करके उस रिक्तता को भर दिया था। इसीलिए, वह सुखी कम, सन्तुष्ट अधिक था। प्रकृति को जीतने की चिंता उसे कम थी, अपने आप पर विजय पाने का जोश अधिक था। सृष्टि का विषय जैसे आज के वैज्ञानिकों की समझ में नहीं आता है, वैसे ही वह उस समय के आदमियों की भी समझ में नहीं आता था। किन्तु, प्राचीन मनुष्य यह मानकर बैठ गया था कि सृष्टि लीला है, रहस्य है, यह जानने नहीं, विस्मित होने की चीज है। चूँकि हम इसे जान नहीं सकते, इसलिए अपने आप पर खेद या खीस हमें नहीं होनी चाहिए। हम तो इस रहस्य पर सोचेंगे और आनन्द से पुलकित होंगे।

इस मनुष्य का विश्वास यह था कि आदमी को ईश्वर ने पैदा किया है। कहीं-कहीं यह कल्पना भी थी कि ईश्वर ने उसे अपने, अधिक-से-अधिक, अनुरूप बनाया है। भारतवासी मानते थे कि आत्मा और परमात्मा एक हैं तथा जीव जन्मजन्मान्तर के बाद ईश्वर-कोटि को पहुँच सकता है। सामी सभ्यता वालों का यह भी विश्वास था कि आदमी पहले देवता था। एक छोटे-से पाप के कारण वह लुढ़ककर आदमी बन गया है। तब भी, वही सृष्टि का सिर-मुकुट है और वह फिर से देवता बन सकता है। पृथ्वी सृष्टि का केन्द्र मानी जाती थी और मनुष्य उसका सबसे सुन्दर, सबसे विलक्षण और सबसे अलौकिक जीव। और इस मनुष्य का सबसे श्रेष्ठ कर्म पाप से बचना तथा पुण्य की आराधना करना था, जिससे वह निर्मल रहकर ईश्वरत्व को प्राप्त कर सके।

किन्तु, जैसे-जैसे विज्ञान का विकास हुआ, मनुष्य की सृष्टि-विषयक पुरानी धारणा छूँछी पड़ने लगी। विज्ञान का पहला सांस्कृतिक प्रभाव यह हुआ कि सृष्टि यन्त्र समझी जाने लगी, जिसके पुर्जे गणित और यन्त्र-विज्ञान के अनुसार काम करते हैं। इस मान्यता से, स्वभावतः ही, यह अनुमान निकल आया कि सृष्टि यदि यन्त्र है, तो इसके निर्माण के लिए ईश्वर की कल्पना अनिवार्य नहीं है। फिर खगोल-वादियों ने यह स्थापना रखी कि पृथ्वी गोल है और असंख्य गोल नक्षत्रों की तरह वह भी शून्य में लटकी हुई है। इससे मनुष्य की यह कल्पना नष्ट हो गयी कि पृथ्वी सृष्टि का केन्द्र है तथा ईश्वर की योजना में उसका कोई खास स्थान है। तब डारविन (१८०९-१८८२) का 'जीवों की उत्पत्ति' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने यह स्थापना रखी कि आदमी ईश्वर का पुत्र नहीं है; वह बन्दर से बढ़कर आदमी हुआ है। और सबके बाद फ्रायड (१८५६-१९३९) का मनोविज्ञान आया, जिसने यह कहा कि आदमी का जप-तप, योग और वैराग्य, सब ऊपरी बातें हैं। वह अपने किसी भी कार्य में स्वाधीन नहीं है। उसके भीतर अपनी और समग्र

मनुष्य जाति की युगों की अगणित अदम्य वासनाएं दबी पड़ी हैं और आदमी के कर्म इन्हीं अज्ञात वासनाओं की प्रेरणा का अनुगमन करते हैं। सच तो यह है कि हम इन वासनाओं का उपभोग नहीं करते, ये वासनाएँ ही हमारा उपभोग करती हैं, हम उन्हें नहीं जीते, हमीं उनके द्वारा जिये जाते हैं। हम मनुष्य अवश्य बन गये हैं, किन्तु, हमारे भीतर वे वासनाएँ अभी भी काफी शक्तिशालिनी हैं, जो हमें उस समय उद्वेलित रखती थीं, जब हम पशु थे। मनोविज्ञान की एक अन्य शाखा आचरणवाद (बिहेवियरिज्म) ने यह सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य अपने आचरण में स्वतन्त्र नहीं है। परिस्थितियाँ जैसी होती हैं, मनुष्य का आचरण भी वैसा ही होता है।

विज्ञान और मनोविज्ञान की सभी खोजों से मनुष्य यह मानने को विवश होता गया कि वह तनिक भी विलक्षण जीव नहीं है। पेड़-पौधों और पशुओं के समान वह भी एक सजीव पदार्थ है और जो नियम अन्य पशुओं पर लागू होते हैं, वह उनका अपवाद नहीं है। इस विवशता-ज्ञान में अगर कहीं कोई कमी रह गयी थी, तो उसे मार्क्स (१८१८-१८८३) ने पूरा कर दिया। उन्होंने स्थापना यह रखी कि धर्म, नैतिकता, कला और अध्यात्म के क्षेत्र में मनुष्य ने जो भी मूल्य निरूपित किये हैं, वे लोकोत्तर मूल्य नहीं हैं। इन मूल्यों का विकास समाज की अर्थ-व्यवस्था के अनुसार हुआ है। अतएव, धर्म-अधर्म, नैतिकता-अनैतिकता तथा पाप और पुण्य की भावनाओं को लोकोत्तर चेतना से सपृक्त मानना कोरा अन्धविश्वास है। आदमी अपना कोई भी निर्णय लेने में स्वतन्त्र नहीं है। सभी निर्णय वह अर्थ-व्यवस्था के अनुसार लेता है, जिसमें उसका जन्म और विकास हुआ है।

इन सारी खोजों और स्थापनाओं का फल यह हुआ कि आदमी का गौरव चूर्ण-चूर्ण हो गया। मनुष्य पशु से भिन्न किसी उत्तम योनि का जीव है, यह कल्पना टूक-टूक हो गयी। आदमी लुढ़ककर जानवरों के बीच जा मिला और वहाँ भी यह चिन्ता उसे सताने लगी कि वह निर्णय लेने में भी स्वतन्त्र नहीं है। स्वतन्त्रता उसे न तो काम के क्षेत्र में है, न अर्थ के क्षेत्र में। परिस्थितियाँ जैसे उसे चलाती हैं, उसी प्रकार उसे चलना पड़ता है।

पशु कोई भी अनुपयोगी काम नहीं करते। वे जो कुछ भी करते हैं, उपयोग के भाव से प्रेरित होकर करते हैं, स्वार्थ से प्रेरित होकर करते हैं। तो क्या मनुष्य भी जो कुछ करता है, स्वार्थ की ही प्रेरणा से करता है? उपयोग की ही भावना से करता है? तो फिर आदमी सन्त और फकीर क्यों हो जाता है? दूसरों के लिए वह अपनी जान क्यों देता है? भोगों को छोड़कर वह तपश्चर्या में क्यों प्रवृत्त होता है? प्रेम के लिए वह मुकुट को लात क्यों मार देता है? वह रहस्यवादी क्यों हो जाता है?

ये और ऐसे अनेक प्रश्न विज्ञान के आक्रमण के बाद भी उठे हैं, किन्तु, ऐसे प्रश्नों को महत्त्व वे लोग देते हैं, जिनके भीतर प्राचीनता के प्रति थोड़ा पक्षपात है।

और शरद के बाद जब शीत ऋतु आती है, प्राचीन परम्परा, धर्म, और श्रद्धा का विघटन आरम्भ हो जाता है तथा नैतिकता के ढाँचे टूट जाते हैं एवं पुराने रस्म-रिवाज और मूल्य हवा मे उड जाते हैं।

स्पेंगलर ने कई सस्कृतियो के उदाहरण दिये हैं और बताया है कि प्रत्येक सस्कृति इन चार अवस्थाओं मे से गुजरकर, अन्त मे मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। भारत मे वैदिक काल को स्पेंगलर ने वसन्त ऋतु, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रो के आविर्भाव-काल को ग्रीष्म, बुद्ध के जन्म-काल एव सूत्र, वेदान्त और योग के समय को शरद तथा बौद्धमत के प्राधान्य वाले काल को शीत ऋतु कहा है। बौद्ध मत समाजवादी विचारधारा का भारतीय सस्करण था। जब अशोक ने बौद्ध मत को स्वीकार किया, हिन्दू-सस्कृति की उद्दामता समाप्त हो गयी और संस्कृति के एक युग का अन्त हो गया।

स्पेंगलर के अनुसार सस्कृति का विकास उसकी आध्यात्मिक शक्ति के कारण होता है। जब सस्कृति अपने पूर्ण विकास पर पहुँचती है, उसकी आध्यात्मिक प्रगति का सिलसिला खत्म हो जाता है। उसके बाद वह जमने लगती है और जमते-जमते बर्फ हो जाती है। फिर वह पिघलती नही, उसके भीतर से विस्फोट होता है और आन्तरिक विकास को छोडकर वह बाहर की ओर फैलने लगती है।

प्रत्येक सस्कृति का पर्यवसान सभ्यता मे होता है। सस्कृति जीवन की धारा है, सभ्यता मृत्यु का घाट है। सस्कृति कृषि-संस्कार से जन्म लेती है और उसी से वृद्धि भी पाती है। सभ्यता महानगरो के संस्कारो को कहते हैं। जब महानगर बनते हैं, आदमी चालाक ज्यादा, ईमानदार कम हो जाता है। प्रत्येक सस्कृति पुष्ट होने पर अपने अनुरूप सभ्यता को जन्म देती है, क्योकि प्रत्येक सस्कृति पूर्ण विकास पर पहुँचकर मरने लगती है। जब उसकी आन्तरिक शक्ति चुक जाती है, सस्कृति भीतरी दुनिया को छोडकर बाहर की ओर फैलने लगती है। संस्कृति का यही बाहरी फैलाव सभ्यता कहलाता है।

यूरोपीय सस्कृति अपने पूर्णतम विकास पर सन् १८०० ई० के आसपास पहुँची थी। यही वह बिन्दु है, जहाँ से वह बहिर्मुखी होने लगी, जहाँ से वह सभ्यता का रूप धारण करने लगी यानी जहाँ से उसकी मृत्यु के अध्याय का आरम्भ होता है। सन् १८०० ई० के आसपास का काल विभाजन की रेखा है। इस रेखा के उस पार जीवन की पूर्णता है, आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास के प्रबल भाव है। यह उस विचारधारा का जगत है, जो 'गोथिक' युग से आरम्भ होकर गेटे और नीत्से तक प्रबलता से बहती आयी थी। सयोग से १८०० ई० के आसपास का समय रोमाटिक जागरण का भी काल है, जिसमे हम पहले से आते हुए सभी वेगवान विचारो का पुष्पित रूप देखते हैं। किन्तु, उस रेखा के इस पार पतझड़ का आरम्भ है, महानगरों का मूलोच्छिन्न, नकली जीवन है, भावनाओ की उपेक्षा और केवल

बुद्धि का साम्राज्य है। इसीलिए, इस युग की मुख्य प्रवृत्ति धर्म नही, विज्ञान है, कविता और दर्शन नही, टेक्नालॉजी और इंजीनियरी है।

स्पेंगलर ने चिल्ला-चिल्लाकर युवको से कहा है, "अपना समय बर्बाद मत करो। सब छोडकर इंजीनियर बनने का प्रयास करो। भूल जाओ कि आत्मा का कोई अंश तुम मे अभी भी शेष है। यह युग आत्मा का युग नही है। अगर तुम चित्रकार, सगीतज्ञ या कवि बनकर जीना चाहते हो, तो निराशा तुम्हारी इन्तजारी करेगी। आध्यात्मिक धन्धो का यह समय नही है। मेरी आशा एकमात्र यह है कि नयी पीढी के लोग मेरी पुस्तक से प्रेरणा ग्रहण करेंगे और कविता के बदले इंजीनियरी की ओर जायेंगे, कला-स्कूलो की बजाय नौसैनिक-स्कूलो की ओर बढेंगे और दार्शनिक बनने के बदले राजनीतिज्ञ बनना पसन्द करेंगे।"

स्पेंगलर ने अपना महाग्रन्थ सभ्यता से नाराज होकर अथवा आधुनिकता का विरोध करने को नही लिखा था। इतिहास के विश्लेषण से उन्हे जो चीज दिखायी पडी, वह यह थी कि, अच्छा हो या बुरा, मगर आदमी अब एक ऐसी जगह पहुँच गया है, जहाँ आत्मा को लेकर वह चल नही सकेगा, जहाँ दार्शनिक ऊहापोह उसके किसी काम नही आयेंगे। स्पेंगलर ने यमराज का आवाहन नहीं किया, उसने यमराज को आया देखकर मनुष्य को केवल यह सूचना दी कि यमराज आ गये है। उनका उद्देश्य आदमी को सिर्फ यह बताना था कि सस्कृति का जमाना लद चुका, अब हम सभ्यता की भूमि मे है। अतएव, अब सभ्यता के काम ही हमारे असली काम हैं। आदमी को अब हवाई जहाज बनाना चाहिए, भले ही वे फलो की जगह बारूद ढोया करें। आदमी को अब सडकें बनानी चाहिए, भले ही वे जहन्नुम को जाती हो। आदमी को अब शस्त्र बनाने चाहिए, भले ही वे गलत मूल्यों की रक्षा के लिए प्रयुक्त किये जायें। "क्योकि नास्तिकता और सन्देहवाद हमारी बौद्धिक किस्मत है तथा इंजीनियरी हमारी ऐतिहासिक नियति हो गयी है।"

स्पेंगलर ने अपनी पुस्तक आधुनिकता की निन्दा करने को नही लिखी थी। किन्तु, तब भी उससे आधुनिक बोध की जो निन्दा ध्वनित होती है, उसे इस ग्रन्थ का गुणीभूत व्यग्य समझना चाहिए।

ओस्वाल्ड स्पेंगलर जर्मन थे। उनकी मृत्यु सन् १९३६ ई० मे हुई। सन् १९१८ ई० में उनकी पुस्तक 'डिक्लाइन आव् द वेस्ट' (पश्चिम का पतन) की पहली जिल्द प्रकाशित हुई और उस पुस्तक के निकलते ही सारे यूरोप मे तहलका मच गया। उस ग्रन्थ की दूसरी जिल्द सन् १९२२ ई० मे निकली और परिणामत विचारको के बीच और भी बेचैनी छा गयी। ऐसा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ बीसवी सदी मे शायद कोई और नही निकला है। इस ग्रन्थ का प्रभाव इतना भयानक हुआ कि दस साल तक लोग उसकी चर्चा करते रहे। किन्तु, धीरे-धीरे लेखको ने स्पेंगलर के विचारो का खण्डन करना आरम्भ किया और, अन्त मे, यह सोचकर वे आश्वस्त हो गये कि

स्पेंगलर का कहना झूठ था और हमने उसे दफनाकर सही जगह पर पहुँचा दिया है।

किन्तु, स्पेंगलर मरे नहीं, न वे कब्र में ढकेले जा सके। उनकी भविष्यवाणियाँ सच होती जा रही हैं। उनका भूत यूरोप के सभी लेखकों के माथे चढ़कर बोल रहा है। डी० एच० लारेंस और फ्रांज काफ्का, टी० एस० इलियट और अलडूस हक्सले तथा जार्ज आरवेल और एच० जी० वेल्स और कुछ नहीं, ओस्वाल्ड स्पेंगलर के प्रेत हैं। स्पेंगलर ने पाश्चात्य सभ्यता के पतन का जो दृश्य कल्पना में देखा था, वही दृश्य इन लेखकों और कवियों की रचनाओं में आकार लेता रहा है। ये सभी लेखक यूरोपीय संस्कृति की आध्यात्मिक क्लान्ति के चित्रकार हैं। स्पेंगलर की भविष्यवाणियाँ सबको अप्रिय लगी थीं और सबने चाहा था कि भविष्यवाणियाँ झूठी हो जायँ। किन्तु, वे भविष्यवाणियाँ झूठी होती नहीं दिखायी देती हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, स्पेंगलर की बात सत्य होती जा रही है और चिन्तक मन-ही-मन अनुभव करते हैं कि हम सचमुच ही उतार के सोपान पर हैं। रंग और खुशबू से, कविता और उपन्यास से अथवा शराब और औरत से हम चाहे जितना भी जी बहला लें, मगर, यह निश्चित है कि शकट के पहिये धँस रहे हैं और क्षण-क्षण हम नीचे जा रहे हैं।

स्पेंगलर की पुस्तक जब निकली थी, उसका प्रभाव गाँधीजी पर भी पड़ा था। 'यंग इंडिया' के १९२५-२६ तक के अंकों में स्पेंगलर के हवाले गाँधीजी ने कई बार दिये थे। स्पष्ट ही, गाँधीजी स्पेंगलर के सभी विचारों से सहमत नहीं थे, किन्तु 'डिक्लाइन आव् द वेस्ट' में आधुनिक सभ्यता के जो दोष दिखाये गये थे, उन्हें गाँधीजी भी सामान्यतः सत्य मानते थे। और प्रोफेसर ट्वायनबी ने जब स्पेंगलर की किताब देखी, उनके मुँह से अचानक यह सूक्ति निकल पड़ी कि "हाय, इसने तो वह सब कुछ लिख डाला, जिसे मैं लिखना चाहता था।" तब से स्पेंगलर का खण्डन ट्वायनबी ने भी किया है, किन्तु, विद्वानों में सामान्य धारणा यह रही है कि ट्वायनबी ने स्पेंगलर का ग्रहण तो तत्त्ववाद के धरातल पर किया, किन्तु व्यवहार के धरातल पर वे उन्हें चट कर गये हैं।

जिसे हम आधुनिक काल कहते हैं, स्पेंगलर के अनुसार वह सभ्यता की उन्नति नहीं, अवनति का युग है, आरोह नहीं, अवरोह का काल है। और अवरोह का यह सिलसिला यंत्रों के उत्थान के साथ ही शुरू हुआ है। औद्योगिक क्रान्ति वह महाघटना थी, जिसने आधुनिकता और अवरोह, दोनों का प्रवर्तन एक साथ किया। जब मशीनों का बोलबाला हुआ, किसान और अमीर खत्म हो गये, यानी समाज का जो निम्नतम आधार और उच्चतम शिखर था, वे दोनों के दोनों विनष्ट हो गये। बच गये केवल महानगर, जिनमें कारखाने गडगडाते हैं, उखड़े हुए सर्वहारा मजदूर मशीन के पुरजों की तरह काम करते हैं और जहाँ कुसंस्कृत धनियों का

राज है।

प्राचीन काल के लोग ज्ञान को पुण्य का पर्याय मानते थे। आधुनिक मनुष्य ज्ञान को पुण्य नहीं, शक्ति का साधन समझता है और शक्ति का निवास कंचन में है। अतएव, कंचन आता है और शान्ति चली जाती है। शरीर के सुखों में वृद्धि होती है, किन्तु आत्मा की शक्ति क्षीण हो जाती है।

व्यापारी, उद्योगपति और व्यवसाय में धन लगाने वाले लोग किसी भी वस्तु का सृजन नहीं करते। वे धन जमा करते हैं और उसी का आदान-प्रदान भी करते हैं। जब भी कोई संस्कृति मरणासन्न होती है, राज ईश्वर का नहीं चलता। ईश्वर के स्थान पर धन का दानव खड़ा हो जाता है। जहाँ भी सत्ता सिमटकर धनियों के हाथ में पहुँची है, संस्कृति को मरने से रोकना असम्भव हो गया है।

यान्त्रिक सभ्यता के आविर्भाव के साथ देश का समस्त जीवन दो-एक महानगरों में केन्द्रित हो जाता है और संसार भर के देहातों में रहने वाले लोग अपने भाग्य का निपटारा आप नहीं कर सकते। निपटारे वे लोग करते हैं, जो दुनिया के मशहूर नगरों (न्यूयार्क, वाशिंगटन, लन्दन, पेरिस, मास्को आदि) में रहते हैं। फिर तो महानगरों की समस्याएँ सारे संसार की समस्याएँ बन जाती हैं, महानगरों के विचार सारे संसार के विचार बन जाते हैं। रेडियो, टेलिविजन, राजनैतिक पैंतरे, युद्ध और शान्ति, समाजवाद, डारविन, फ्रायड, किर्केगार्द, इब्सेन, काफ्का, शॉ और जेम्स ज्वायस का देहातों से क्या सरोकार है?

संसार के किसी भी महानगर में आत्मा नाम की चीज नहीं होती। महानगर बुद्धिमान होते हैं, चालाक होते हैं, सन्देहवादी और शकालु होते हैं, व्यावहारिक और अधार्मिक होते हैं, इसीलिए, वे अनुर्वर और बाँझ भी होते हैं। यह अनुर्वरता केवल दिमाग तक ही सीमित नहीं रहती, वह जमीन को भी प्रभावित करने लगती है और लोग गम्भीरता से इस बात की छान-बीन करने लगते हैं कि सन्ततियों को जन्म लेने देना चाहिए या नहीं। जब संततियों के जन्म को लेकर शास्त्रार्थ होने लगे, तभी समझ लो कि चौराहा आ गया है और संस्कृति पतन की ओर जाने वाली है। गर्भ-निरोध की प्रथा के आरम्भ होते ही, नारियों का माता और गृहिणी वाला रूप खत्म हो जाता है और विवाह का उद्देश्य सन्तान की प्राप्ति न होकर काम का किलोल बन जाता है। फिर औरतें ऐसे रोजगार खोजने लगती हैं, जो उनके स्वभाव के विपरीत हैं, जिनसे उनका समय भले ही कट जाय, लेकिन आत्मा को तृप्ति नहीं मिलती। और तब ऐसा होता है कि जो नारी पहले साहित्य का शृंगार थी, वह नये साहित्य की समस्या बन जाती है और उसके विश्लेषण के लिए जोला और प्राउस्ट, इब्सेन और शॉ को जन्म लेना पड़ता है। साहित्य वह नहीं रहता, जिसमें समस्त जाति के हृदय की धड़कन सुनायी देती है। वह उनकी भावनाओं का कोष बन जाता है, जो गाँवों और नगरों में नहीं रहते, जो महानगरों

के निवासी है और असख्य जनता के जीवन से अपरचित और अपने देश की मिट्टी से दूर है।

प्रतिभाएँ, साधारणतया, गाँवों मे जन्म लेती हैं, महानगरो मे आकर विकास पाती है और एक पीढ़ी के बाद फिर नष्ट हो जाती हैं, क्योंकि जाति की असली ऊर्जा का निवास महानगरो मे नही होता। महानगर वह स्थान है, जहाँ शक्ति और प्रतिभा की दूकान चलायी जाती है, ये शक्तियाँ वहाँ पैदा नही होती। किन्तु, जैसे-जैसे देहातो के लोग रेले में बहकर महानगरों की ओर आते हैं, जाति का रुधिर कमजोर होने लगता है। लोगों की कष्ट सहने की शक्ति क्षीण होने लगती है, उनकी आराम-तलबी बढ़ने लगती है। वे तन और मन से मुलायम होने लगते हैं। वे युद्ध और सघर्ष मे डरने लगने हैं और उनकी विपरीत परिस्थितियो से जूझने की शक्ति, जो पौरुष का असली गुण है, समाप्त हो जाती है।

जातियो के रक्त-दौर्बल्य का प्रभाव कला पर पडता है। जैसे-जैसे जातियों का स्वभाव छिछला और शकालु होता जाता है, जैसे-जैसे वे अपनी ऊर्जा के प्राकृतिक कोष से दूर होती जाती हैं, वैसे-वैसे उनकी कला की लौ भी मद्धिम पड़ती जाती है। धीरे-धीरे सहित्य का स्थान पत्रकारिता ले लेती है और लेखक कलाओं का सृजन छोड़कर उनकी शैलियो के बौद्धिक विवेचना मे लग जाते हैं। नाटक और उपन्यास पहले तो उपदेश छाँटते हैं, किन्तु, उससे ऊबकर वे अनैतिक शृंगार की चाशनी बाँटने लगते है। फिर साहित्य मे प्रभाववादी शैली प्रवेश करती है, जो पाशविकता को सूक्ष्म परिमार्जन से सजाकर उसे सुरुचि-ग्राह्य बना देती है। "आज जिस कला का सृजन हो रहा है, वह नपुसकता की कला है, अवास्तविकता का शृगार है। गीत नकली है। चित्र नकली है। उनमे सिर्फ दिखावट और आडम्बर की प्रधानता है और उनको शैलियाँ हर दस वर्ष के बाद परिवर्तित हो जाती हैं। और तब भी, इन्ही निर्जीव शैलियो को लेकर हम मन को उबा देने वाला नकली खेल खेल रहे हैं और यह सब अपने आप को यह समझाने के लिए कि हम जिसे कला कहते हैं, वह सचमुच कोई जीवित वस्तु है।"

स्पेंगलर का विचार है कि जब भी सस्कृति मरणासन्न होती है, उनकी कला उनके विज्ञान के सामने आत्म-समर्पण कर देती है, वह विज्ञान का अनुकरण करने लगती है। इसका कारण यह है कि सस्कृति को जब अपनी आन्तरिक शक्तियो का भरोसा नही रहता, वह अपनी गरदन सभ्यता के हाथ मे सौंप देती है और सभ्यता उसे मोडकर विज्ञान की ओर प्रेरित कर देती है। कलाएँ सस्कृति हैं, सभ्यता विज्ञान है। अगर विज्ञान अनुकरणीय है, तो अनुकरण उसका पूरा होना चाहिए। किन्तु, विज्ञान के सम्पूर्ण अनुकरण से कलाएँ समाप्त हो जायेंगी। सभ्यता यही चाहती भी है। वह संस्कृति के वध के लिए उत्पन्न होती है। विज्ञान का उद्देश्य कुछ और, कलाओ का उद्देश्य कुछ और है। जो काम विज्ञान करता है,

उसे कलाएँ नहीं कर सकती। जो काम कलाएँ करती है, वह विज्ञान के वश के बाहर की बात है। तब भी, जब संस्कृति के विनाश का समय आता है, कला के सेवक भ्रम में पड़ जाते हैं और वे शत्रु को इज्जतदार देखकर उसी का अनुकरण करने लगते हैं।

साहित्य की भूमि में कर्म और चिन्तन के बीच जो खाई खुद गयी है, स्पेंगलर उसे भी संस्कृति की पतनशीलता का लक्षण मानते थे। यह हमारा ही समय है, जिसमें चिन्तन का काम वे करते हैं, जिन्हें कर्म का न तो कोई अनुभव है, न ज्ञान। पहले के दार्शनिक ऐसे नहीं थे। कनफ्यूशियस कई राजाओं के मन्त्री रहे थे। पिथेगोरस में संगठन की अद्भुत क्षमता थी। सुकरात से पहले ऐसे कई दार्शनिक यूनान में हुए थे, जो पेशे से सौदागर अथवा राजनीतिज्ञ थे। लेबेनिज चौदहवें लुई के शिक्षक थे, मगर, राजकाज का ज्ञान वे राजा से अधिक समझते थे। और गेटे के लिए तो कर्म का कोई भी क्षेत्र अपरिचित नहीं था। हर जगह वे कारगर अधिकारी सिद्ध हुए थे। "हमारे समय के चिन्तकों का सबसे बड़ा अभाव यह है कि वास्तविक जीवन में उनका कोई स्थान नहीं है।"

बलशाली ज्ञान का युग समाप्त हो गया। जिन विचारों से मनुष्य बड़े काम करने की प्रेरणा पाता था, उन्हें सन्देहवाद ने खोखला कर दिया। शापनहार ने जिस निराशा और सन्देह का प्रवर्तन किया था, वही निराशा और सन्देहवाद सभ्यता का अब दर्शन बन गया है। रोमांटिक उद्दामता और निराशा से जूझने वाली आशा की एक झलक नीत्से में जरूर दिखायी पड़ी थी, लेकिन वह विजयी नहीं हुई। शापेनहार की मनोदशा ने नीत्से की मनोदशा को परास्त कर दिया और परिणामत यूरोप के दिमाग पर कुहासे की बदली छा गयी।

ज्ञान का दर्प चूर्ण हो गया। वह अब सुकरात के पास जाकर स्वीकार करता है कि मुझे कुछ भी मालूम नहीं है। दुनिया की हर चीज देश और काल में हमेशा घूम रही है। इसीलिए, किसी भी वस्तु का सम्यक् ज्ञान हम प्राप्त नहीं कर सकते। सभी सत्य सापेक्ष्य है, क्योंकि हम जिसे सत्य कहते हैं, वह देश के एक खास विन्दु पर, समय के एक खास क्षण में, देखी हुई घटना के ज्ञान के सिवा और कुछ नहीं है। "आइन्स्टीन का अर्थ सर्वान्त है। आइन्स्टीन के बाद के आदमी के लिए यह असम्भव हो गया है कि वह गम्भीरता के साथ अपने आप के बारे में कोई गौरव की बात सोच सके। स्वयं जीवन समस्याओ का पुंज बन गया है। अब विचारक इस बात पर भी शंका करने लगे हैं कि जीवन जीने योग्य है अथवा नहीं।"

जब संस्कृति मरने लगती है, पवित्रता अपना गठबन्धन नास्तिकता के साथ कर लेती है। ऊपरी तबको के लोग नास्तिक हो जाते है और निचले तबको के लोगो में आस्तिकता पहले से भी अधिक हास्यास्पद रूप लेने लगती है। "संस्कृति

के ऋतुराज मे दर्शन धर्म के साथ रहता है; ग्रीष्म के आने पर वह धर्म से छिन्न हो जाता है। वसन्त ऋतु मे दर्शन धर्म की व्यख्या करता है, जाड़े के मौमम मे वह धर्म को नष्ट कर डालता है।"

सस्कृति का अति विकास सभ्यता को जन्म देता है। संस्कृति, असल में कृष्टि का नाम है। वह निश्चित रूप से कृषि से उत्पन्न होती है, धरती मे जन्म लेती है, आत्मा के भीतर से पैदा होती है। किन्तु, सभ्यता महानगरो की वस्तु है। वह आत्मा नही, शरीर का उपकरण है। अँगरेजी का कल्चर शब्द एग्रिकल्चर यानी कृषि की याद दिलाता है, जैसे सिविलिजेशन मे सिटी शब्द का आभास मिलता है, जिसका अर्थ महानगर होता है। सस्कृति हमेशा धार्मिक होती है, इसलिए सभ्यता के साथ अधार्मिकता का मेल रोका नही जा सकता। आज की कला सभ्यता की कला है, इसीलिए वह अधार्मिक है। प्रभाववाद रगो मे नास्तिकता का पर्याय है। "जो आध्यात्मिकता अपनी पूर्णता पर पहुँच चुकी है, जिसकी सारी-की-सारी धार्मिक सम्भावनाएँ खत्म हो चुकी है और अब जो सजीव से निर्जीव के धरातल पर जा रही है, उसकी भाषा नास्तिकता के सिवा और कुछ हो ही नही सकती।"

अगर सारी जनता नास्तिक हो गयी, तो राष्ट्र का विनाश अवश्यंभावी है। जब लोगो को यह ज्ञान होता है कि जीवन से परे वाले जीवन का कोई अर्थ नही है, तब उनके भीतर से वह आशा विदा हो जाती है, जिससे मनुष्य बड़े-बडे काम करने का साहस पाता है। तब आदमी यह भी सोचने लगता है कि अगर जिन्दगी मे दुख निश्चित और सुख क्षणस्थायी है, अगर ज्ञान की वृद्धि से केवल शोक बढता है और सारे सघर्षो का एक परिणाम पराजय है, तो फिर ऐसी जिन्दगी के लिए सततियाँ उत्पन्न करना बेवकूफी की बात है। और कही गर्भ-निरोध का रिवाज भी चल पड़ा, तो बाकी सारी बाते आप-से-आप हो जाती है। जाति को नेतृत्व देने वाले लोग कमजोर हो जाते हैं, उनकी सख्या घट जाती है और अन्त मे जाति की मृत्यु, शिखर से ही, आरम्भ हो जाती है।

धर्म की मृत्यु के मानी ये नही है कि धर्म की बात समाज मे कोई नही करता। उसका अर्थ यह है कि धर्म प्रेरणा का उत्स नही रह जाता है।। ऊपर के तबके के लोग धर्म से विमुख हो जाते है, किन्तु, नीचे की जनता धर्म के मिथ्या रूपो मे फँस जाती है। और जब मशीनो की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता और सर्वत्र विद्यमानता से ऊब और घबराहट फैलती है, तब ऊपर के तबके वाले भी किसी प्रकार के रहस्यवाद का रास्ता खोजने लगते हैं, किसी ऐसे दिवा-स्वप्न मे फँस जाते है, जो उन्हे दिलासा दे सके।

धर्म और रहस्यवाद की भावना मनुष्य से छीनी नही जा सकती। आदमी ज्ञान के रास्ते से चले या विज्ञान के रास्ते से, वह अन्त मे एक ऐसी जगह पहुँचकर रहता है, जहाँ बुद्धि काम नही करती, जहाँ की अनुभूतियों को हमारी भाषा

आसानी से नहीं उठा सकती। विज्ञान जितना ही आगे बढ़ेगा, वह धर्म से दूर होता जायेगा, किन्तु, एक दिन वह भी उस बिन्दु पर पहुँचने वाला है, जहाँ आधिभौतिकता में आकर्षण नहीं रहेगा और आदमी एक प्रकार की मानसिकता अथवा अन्तर्मुखी वृत्ति की सत्ता स्वीकार कर लेगा। "धर्म का दूसरा दौर बुद्धिवाद की निस्सहायता की अनुभूति से उत्पन्न होगा।" यह बारी-बारी से कई रूपों में होकर गुजरेगा और तब पश्चिम के लोग, विज्ञान का उपयोग करते हुए भी, उसे अपना मार्ग-दर्शक नहीं मानेंगे। मार्गदर्शन के लिए वे शायद किसी पैगम्बर या अवतार की इन्तजारी करेंगे और, अन्त में, उनकी अपनी ही इच्छाओं और आशाओं से एक या अनेक पैगम्बर उत्पन्न होंगे, जो उस संस्कृति का पथ-प्रदर्शन करेंगे।

आज राजनीति में जो कुछ हो रहा है, स्पेंगलर ने उसे भी पतनशीलता का लक्षण अथवा अवरोध का सोपान माना है। "पतनशीलता का अन्तिम सोपान राजनीति का सोपान है। इसका आरम्भ शक्ति-प्राप्ति की इच्छा के त्याग से होता है, लड़ाइयों से भागने की प्रवृत्ति से होता है।" लोग संघर्ष और खतरों से बचना चाहते हैं, इसीलिए, वे शान्ति और सुरक्षा की बातें करने लगते हैं। "शान्ति और सुरक्षा की यह मीठी भावना संस्कृति के ह्रास का अत्यन्त सुस्पष्ट प्रमाण है।"

संसार के राजनैतिक इतिहास से जो असली नियम या असली शिक्षा निकलती है, वह यह है कि ताकतवर देश कभी भी गलती नहीं करते। गलती वे करते हैं, जो कमजोर हैं। दुनिया का इतिहास दुनिया की असली अदालत है। उसका फैसला उन लोगों के खिलाफ कभी नहीं गया है, जो ज्यादा ताकतवर और ज्यादा पूरे मर्द थे, जिनकी कर्म-भावना अत्यन्त प्रखर थी, जिनका आत्मविश्वास अदम्य था। इस अदालत ने बराबर शक्ति और नस्ल की मजबूती पर सचाई और इंसाफ को कुर्बान किया है। और इस अदालत ने उन जातियों को हमेशा सजा दी है, जो सत्य को कर्म से तथा न्याय को शक्ति से अधिक महत्त्व देती थीं। गेटे ने कहा था, "कर्मठ पुरुष विवेकशून्य होते हैं। विवेकशून्यता उन सभी लोगों का गुण है, जो लड़ाई में भाग लेते हैं। अच्छे-बुरे का ज्ञान सिर्फ तमाशबीनों को होता है, जो निरापद और लड़ाई से दूर हैं।"

पुरानी चेतना मैकबेथ की चेतना थी। कर्म की प्रेरणा होने पर मैकबेथ ज्यादा ऊँचा-नीचा नहीं सोचता। जो कुछ उसे करना है, वह सीधे कर डालता है। कर्म के पूर्व उसमें जो द्विधा उठती है, वह द्विधा नैतिक नहीं, कानूनी है। मैकबेथ को भय यह नहीं है कि जो कुछ वह करने जा रहा है, वह अनैतिक कर्म है। चिंता उसे केवल यह है कि अगर सत्य प्रकट हो गया, तो क्या होगा। किन्तु, नयी चेतना हैमलेट की चेतना है। हैमलेट कर्म की प्रेरणा आने पर भी कर्म नहीं करता। वह चिन्तन के ऊहापोह में ग्रस्त हो जाता है। इसी स्थिति को रेखांकित करने को गेटे ने कहा था, कार्यकारी व्यक्ति में विवेक का अभाव होता है और जिनमें 'विवेक

होता है, वे काम नहीं कर पाते। वे या तो तमाशबीन होते हैं या मारे जाते हैं। और इसी स्थिति पर प्रकाश डालते हुए दोस्तावास्की ने कहा था कि कार्यकारी मनुष्य अथवा वे लोग जो, सीधे तीर की तरह, कर्म पर पहुँच जाते हैं, अक्सर, बेवकूफ होते हैं। उनकी चेतना सीमित होती है। कर्म पर सीधे वे इसलिए पहुँच जाते हैं कि उनमें ऊहापोह की योग्यता नहीं होती, द्विधा में फँसने की प्रवृत्ति का उनमें अभाव होता है और वे चीजों के एक ही पक्ष को देखते हैं।

दोस्तावास्की में मनीषी के प्रति पक्षपात है। वे चिन्तक को कार्यकारी मनुष्य से श्रेष्ठ समझते हैं। स्पेंगलर भी मानते हैं कि साहित्य में आधुनिक युग मैकबेथ नहीं, हैमलेट और फोस्ट का है। किन्तु, हैमलेट और फोस्ट की प्रधानता को वे सभ्यता का अभिशाप समझते हैं। "आदमी दो प्रकार के होते हैं। एक वे, जो नियति में विश्वास करके चलते हैं। दूसरे वे, जो कारण-कार्य के सम्बन्धों का पता लगाये बिना कुछ भी करना नहीं चाहते। कर्मी की दुनिया और, तथा चिन्तक की दुनिया और होती है। किसान और योद्धा, राजपुरुष और जेनरल, व्यापारी और उद्योग-निर्माता, बहादुर और जुआबाज, ये लोग अपने भाग्य के नक्षत्र में विश्वास करनेवाले होते हैं। स्थिति को सही-सही भाँप लेने की उनमें अपरिमित शक्ति होती है। वे इस दुविधा में नहीं पड़ते कि जो कदम वे उठाना चाहते हैं, वह सही है या नहीं। रक्त की आवाज विवेक और बुद्धि की आवाज से ज्यादा ताकतवर है। कार्यकारी मनुष्य फैसले जल्दी इसलिए कर डालते हैं कि रक्त की आवाज को बुद्धि और विवेक की आवाजों से अलग करके वे पहचान सकते हैं। लेकिन, जिसका रक्त कमजोर होता है और जिसमें सोचने की शक्ति बड़ी तेज होती है, वह कार्यकारी न होकर बौद्धिक और चिन्तक हो जाता है। कार्यकारी और चिन्तक मनुष्यों का भेद दूर से ही दिखायी देता है। सितारों में विश्वास करनेवाले कार्यकारी मनुष्य की पदचाप भारी होती है। चिन्तकों की मद्धिम पदचापों के बीच कार्यकारी मनुष्यों के पैरों की आहट भी दूर से ही सुनायी देती है।"

इतिहास की दुनिया में आदर्श नाम की कोई चीज नहीं होती, वहाँ केवल तथ्य होते हैं; सत्य नाम की कोई चीज नहीं होती, वहाँ केवल तथ्य होते हैं। इतिहास में न तो कोई तर्क है, न इन्साफ है, न ईमानदारी है, न अन्तिम ध्येय नाम की कोई चीज है। जो इस स्थिति को नहीं समझते, वे राजनीति की किताबें भले लिखा करें, किन्तु, राजनीति के निर्माण की ओर उन्हें नहीं बढ़ना चाहिए। "जातियों का स्वाभाविक पारस्परिक सम्बन्ध युद्ध का सम्बन्ध होता है। शान्ति तो वह क्लान्त उच्छ्वास है, जिसे हम जय और पराजय के प्रवाह में बहते हुए आराम के समय छोड़ते हैं।"

जातियाँ आपस में जब धक्का-मुक्की करती हैं, उनके व्यक्तित्व का आन्तरिक विकास होता है। युद्ध की कठोर वास्तविकताएँ मजबूत इन्सान को जन्म देती हैं।

नीत्से सही था, शान्तिवादी गलत हैं। शान्ति का प्रेम जातियों को ले डूबता है। जिस जाति का शान्ति-प्रेम उसका धर्म बन जाता है, उसपर बार-बार चढ़ाइयाँ होती हैं, वह बार-बार हरायी जाती है और, अन्त मे, वह इतिहासहीन बन जाती है। जातियो के सामने विकल्प युद्ध और शान्ति के नहीं होते। विकल्प यह होता है कि हम अपने घर के स्वामी बनकर जियेंगे या अपने ही घर में हम दास हो जायेंगे। "जब सन् १४०१ ई० में मंगोलों ने मेसोपोटामिया को जीता, अपना विजय-स्तंभ उन्होंने एक लाख नरमुंडो से खड़ा किया था—यानी बगदाद के उन एक लाख आदमियो के मुण्ड, जिन्होंने अपनी रक्षा मे तलवार नही उठायी थी।" एक-तरफा शान्ति कायरता है, अपनी संघर्ष-विमुखता को रेशम की चादर से ढँकने का प्रयास है। जब तक दोनो पक्ष नही चाहते, लड़ाई कभी भी नही रुकती है।

स्पेंगलर के मतानुसार प्रजासत्ता और समाजवाद, दोनो अवरोह के सोपान हैं, क्योंकि दोनों ही बली व्यक्तियों को शंका से देखते हैं। जो लोग अपनी जमीन से उखड़कर फकत रोजी कमाने को कारखानों की भीड़ मे शामिल हो गये हैं, समाजवादी दर्शन की अपील उन्ही के लिए है। और प्रजासत्ता को मतदान का दूध मुख्यत वे पिलाते है, जिन्हे पाठशालाओं मे केवल साक्षरता सिखायी गयी है, लेकिन अपनी बाकी सारी शिक्षा जिन्होंने अखबारो की सुर्खी से ग्रहण की है। "प्रजातंत्र जनता का राज्य नही है, चुने-चुनिन्दे सर्वश्रेष्ठ लोगों का भी राज नहीं है। वह केवल रुपयों का राज है।"

स्पेंगलर के सभी विचार सही नही हैं। खास कर लड़ाई और अमीर के बारे में उनकी दृष्टि बहुत ही एकांगी मालूम होती है। शान्ति अब उतनी निरर्थक वस्तु नही रह गयी है, जितनी निरर्थक वह परमाणु-भय के पूर्व दिखायी दे सकती थी। और सभी अच्छी बातें केवल लड़ाइयो से ही पैदा नही होतीं। क्षमा की राज्यभ्रान्ति शस्त्रों मे नहीं, विचारो से उत्पन्न हुई थी। इसी प्रकार, अमीरो के लिए की गयी स्पेंगलर की वकालत फालतू मालूम होती है। सृजनशीलता के काम अमीर नही करते। उन्हें करने वाले लोग अक्सर साधारण स्थितियों मे जन्म लेते है। और देशों की तो बात ही क्या, खुद जर्मनी मे जो भी बड़े लोग हुए, वे सबके सब गरीबी की स्थिति मे उत्पन्न हुए थे। लूथर, लेवेनिज, काण्ट, शापेनहार, हाइने और नीत्से अमीर नहीं, गरीब थे। गेटे का ठाट-बाट पीछे जैसा भी बना हो, किन्तु, जन्म उनका भी अमीर खानदान मे हुआ था।

एरिक हेलर ने लिखा है कि स्पेंगलर का दोष यह नही है कि अपने इतिहास मे उन्होंने गलत बातें लिखी हैं। उनका दोष यह है कि इतिहास को उन्होंने एक विचित्र दृष्टि से देखा है। यह सत्य है कि स्पेंगलर की दृष्टि तीखी, दिमाग बहुत तेज और विद्वत्ता अगाध है। किन्तु, जिस मस्तिष्क ने उनके इतिहास मे घटनाओं का पर्यवेक्षण किया है, वह शिष्ट और कोमल नही, उग्र और कठोर है। सबसे बुरी

बात शायद यह है कि मानवीय स्वातन्त्र्य की स्पेंगलर की अवधारणा अधूरी दिखायी देती है। उनकी यह मान्यता भी बनगढ़ और कुरूप है कि नियति की ओर से ही यह हुक्म है कि, कालक्रम में, हम आध्यात्मिक मूल्यों को छोड़ दें और आँख मूँदकर उस शिविर में चले जायँ, जो आध्यात्मिकता के शत्रुओं का शिविर है। कवि नहीं, इंजीनियर बनो; दार्शनिक नहीं, राजनीतिज्ञ बनो; यह उपदेश आध्यात्मिकता का विरोधी उपदेश है।

यही वह तिलमिलाहट है, जिसे स्पेंगलर के खिलाफ संसार के अनेक चिंतकों ने महसूस किया है। मगर, इस तिलमिलाहट से होता क्या है? आधुनिक सभ्यता तो अधिकतर वही रूप धारण करती जा रही है, जिसका संकेत स्पेंगलर ने दिया था। स्पेंगलर पैगम्बर नहीं, इतिहासकार थे। किन्तु, जिस इतिहासकार की दृष्टि काफी पैनी होती है, वह भविष्य की उन बातों को भी देख लेता है, जिन्हें पहले केवल पैगम्बर देखा करते थे।

स्पेंगलर ने आधुनिक सभ्यता का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया था, आधुनिक-बोध की प्रक्रिया उससे बहुत बेमेल नहीं है। इस बोध का एक लक्षण यह है कि उसने देहातों में रहनेवाले असंख्य मानवों की उपेक्षा कर दी है और अपने को उन समस्याओं से बाँध लिया है, जो मुख्यतः महानगरों में बसनेवाले लोगों की समस्याएँ हैं। उसका दूसरा लक्षण यह है कि वह उन लोगों का बोध बन गया है, जिन्हें जीवन में कहीं कोई आध्यात्मिक केन्द्र दिखायी नहीं देता और जो इस विचिकित्सा से बेहाल हैं कि अगर सारा-का-सारा जीवन निरर्थक है, तो फिर आत्महत्या अनैतिक कार्य कैसे हो सकती है।

नास्तिक तो साम्यवादी देशों के भी लोग हैं। किन्तु, नास्तिकता उनके भीतर आध्यात्मिक पीड़ा नहीं उत्पन्न करती। वे खाते-पीते और डटकर काम करते हैं तथा नाटक, नृत्य और संगीत को आध्यात्मिक चेष्टा कहकर अपनी पारलौकिक तृषा की तृप्ति कर लेते हैं। किन्तु, पश्चिम के कलाकार नास्तिकता की घूँट पीकर भी सुखी और संतुष्ट नहीं हैं। बाहर से तो उन्होंने खुली घोषणा कर दी है कि ईश्वर मर गया, किन्तु, उसकी मृत्यु से जो सिंहासन खाली हो गया है, वह उनके चित्त को साल रहा है। इसी दृष्टि से हम बीटनिक कवियों के दर्द को धार्मिक स्नायुघात का दर्द समझते हैं। ये कवि नास्तिक इसीलिए नहीं हैं कि ईश्वर की उन्हें आवश्यकता नहीं है, बल्कि, इसलिए कि बुद्धि से ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सका है। बुद्धि से ईश्वर-सिद्धि न तो हुई है, न आगे होगी। किन्तु, जब भी बुद्धिवाद से नैराश्य फैलेगा अथवा विज्ञान किसी ऐसी गहराई में पहुँचेगा, जहाँ उसे 'नेति' कहने की विवशता अनुभूत होगी, तभी ये सभी लोग, नयी शब्दावली के साथ, आस्तिकता के वृत्त में वापस आने वाले हैं। अभी तो पश्चिम के नास्तिक लेखकों में कम ही ऐसे लोग हैं, जो नास्तिकता के केन्द्र में हो। ज्यादा लोग ऐसे ही हैं, जो परिधि पर घूम

रहे है और, बारी-बारी से, वे आस्तिकता और नास्तिकता, दोनो की ओर देखते हैं।

सुख विश्वास से उत्पन्न होता है। सुख जडता से भी उत्पन्न होता है। पुराने जमाने के लोग सुखी इसलिए थे कि ईश्वर की सत्ता मे उनका विश्वास था। उस जमाने के नमूने आज भी है, मगर, वे महानगरो मे कम मिलते है। उनका जमघट गाँवो, कसबो या छोटे-छोटे नगरो मे है। इनके बहुत अधिक असतुष्ट न होने का कारण यह है कि जो चीज उनके वश मे नही है, उसे वे अदृश्य की इच्छा पर छोड कर निश्चित हो जाते हैं। इसी प्रकार सुखी वे लोग भी होते हैं, जो सच्चे अर्थों मे जडतावादी है, क्योकि उनकी आत्मा पर कठखोदी चिडियाँ चोच नही मारा करती। किन्तु, जो न जड़ता को स्वीकार करता है, न ईश्वर के अस्तित्व को, साथ ही पूरे मन से जो न तो जडता का त्याग करता है, न ईश्वर के अस्तित्व का, असली वेदना उसी संदेहवादी मनुष्य की वेदना है। पश्चिम का आधुनिक बोध इसी पीडा से ग्रस्त है। वह न तो भैंस की तरह खा-पीकर सतुष्ट रह सकता है, न अदृश्य का अवलब लेकर चिन्तामुक्त हो सकता है। इस अभागे मनुष्य के हाथ मे न तो लोक रह गया है, न परलोक। लोक इसलिए नही कि वह भैंस बनकर जीने को तैयार नही है, और परलोक इसलिए नही कि विज्ञान उसका समर्थन नही करता। निदान, सदेहवाद के झटके खाता हुआ यह आदमी दिन-रात विषण्ण रहता है और रह-रह कर आत्म-हत्या की कल्पना करके अपनी व्याकुलता का रेचन करता है।

जब तक धर्म और बुद्धि के बीच सौहार्द था, मनुष्य की बेचैनी भी थोडी थी। बुद्धि से मनुष्य शक्ति अर्जित करता था और धर्म को पूछ कर वह उसका उपयोग करता था। गलतियाँ तब भी होती थी, किन्तु, वे आज की अपेक्षा छोटी थी, क्योकि बुद्धि की क्षमता पहले बहुत विशाल नही थी। किन्तु, आज बुद्धि अथाह विज्ञान बन गयी है और धर्म बुद्धिवाद से समर्थित न होने के कारण त्यक्त हो गया है। परिणाम यह है कि मनुष्य ने परमाणु को तो तोड डाला, किन्तु, परमाणु-बम से जो शक्ति निःसृत हुई है, वह आदमी की सबसे भयानक समस्या बन गयी है। मनुष्य को शक्ति भी चाहिए और शिवत्व भी। विज्ञान ने उसे अपरिमित शक्ति दे रखी है, किन्तु, शिवत्व के अभाव में वह बेहाल है। शक्तियों से सबलित होकर मनुष्य देवता बनना चाहता था, किन्तु, शक्ति प्राप्त करके वह भस्मासुर बन गया है।

इस दर्द से निकलने की राह है, लेकिन, आदमी उधर मुडने को अपनी अगति समझता है। *यह पीडा, असल मे, विज्ञान के दर्प की पीडा है।* *अथवा दर्प कहना* भी बेतुकी बात है। विज्ञान अपने स्वभाव से लाचार है। वह ऐसे किसी पचड़े मे पड़ना नही चाहता, जो बुद्धि से समझा नही जा सकता हो। धर्म एक ऐसा विषय है, जिसकी अन्तिम व्याख्या बुद्धि नहीं दे सकती। अतएव, विज्ञान धर्म से तटस्थ रहता है। कसूर विज्ञान का नही, आदमी का है। चूकि धर्म विज्ञान का क्षेत्र नही है, इस-

लिए आदमी ने यह समझ लिया कि कि तब धर्म बेकार है। जो वर्ताव आधुनिक बोध ने धर्म के साथ किया है, लगभग, वही वर्ताव वह कविता के साथ भी कर रहा है। धर्म और काव्य, दोनों के दोनों विज्ञान के शिकार बनाये जा रहे हैं। निरी बुद्धि के आधार पर न तो धर्म ठहरेगा, न कविता कविता बन कर जी सकेगी। लेकिन आदमी अपने बुद्धिवाद की अकड़ को छोड़ने को तैयार नहीं है।

इसीलिए वह अपनी समस्याओं का समाधान नहीं पा रहा है। इलियट के भीतर से यह आकुल पुकार आयी थी कि गति को छोड़कर अब स्थिरता का सधान करो, शब्दों को छोड़ कर नीरवता की खोज करो, किन्तु इलियट यही कहने के कारण परंपरावादी करार दिये गये। जो भी नास्तिक नहीं है, वह आधुनिकता से दूर है, इस अमान्य सिद्धान्त के मानने में मनुष्य और भी घबराहट में पड़ गया है।

जब भी काव्य विज्ञान के सामने घुटने टेकता है, स्पेंगलर कहते हैं कि संस्कृति का विनाश उसी समय आरम्भ हो जाता है। यह स्थापना हमें ठीक मालूम होती है और हमारा ख्याल है कि आधुनिक-बोध का प्रवाह हमें भावनाओं से उखाड़ कर विज्ञान नहीं, विनाश को ओर ले जा रहा है। अगर कवित्व नहीं रहा, भावनाएँ नहीं रहीं, तो आदमी 'रोबोट' के सिवा और क्या रह जायेगा? साहित्य के भीतर विज्ञान की प्रतिष्ठा को, जरूरत से ज्यादा, महत्त्व दे कर हमने उस कार्य का श्रीगणेश कर दिया है, जो अगर चलता रहा तो एक समय मनुष्य को मनुष्यता से उखाड़ कर 'रोबोट' की श्रेणी में पहुँचा देगा।

स्थिति अभी भी ऐसी नहीं है, जो चिंता से बिल्कुल निर्मुक्त हो। विज्ञान के सत्य का खंडन कोई नहीं करता, किन्तु, मूल्यों की हर स्थापना विरोध को जन्म देती है। विज्ञान की बनायी हुई तस्वीर तकरार की चीज नहीं है, किन्तु, मूल्यों के आधार पर निरूपित चित्र केवल काल्पनिक समझे जाते हैं। लोग या तो समझ कर भी उन्हें नहीं समझते अथवा सापेक्ष्य कह कर वे उन्हें टाल देते हैं। दो चित्र-कारों के द्वारा बनाये गये दो चित्र अगर हमारे सामने लाये जायें, तो उनके परीक्षण की विधियाँ दो हो सकती हैं। एक तो यह कि कौन चित्र लंबाई या चौडाई में किससे कितना बड़ा या कितना छोटा है। यह परीक्षण का वैज्ञानिक तरीका है और, माप-जोख के बाद, विज्ञान इस बारे में जो भी कुछ कहेगा, उसे सभी लोग आँख मूँद कर स्वीकार कर लेंगे। किन्तु, इस प्रकार से क्या चित्रों का मूल्यांकन किया जाता है? लेकिन, विपद की बात यह है कि जभी यह चर्चा शुरू की जायगी कि कौन चित्र किससे अधम अथवा श्रेष्ठ है, तभी मतभेद खड़े हो जायेंगे और ऐसा शास्त्रार्थ आरम्भ हो जायेगा, जिसका अन्त कभी होता ही नहीं है।

अब ऐसे दार्शनिक भी निकल आये हैं, जो कहते हैं कि चूँकि मूल्य-विषयक निर्णय अथवा जाँच के किसी भी वैज्ञानिक तरीके का आविष्कार असंभव है, अत-एव सभी मूल्यों को त्याज्य समझ कर छोड़ देना चाहिए। यही , जो

हमे साहित्यकारो की विज्ञान-आराधना मे दिखायी देता है। लेकिन यहाँ भी अपराध विज्ञान का नही, बल्कि उन पडितो का है, जो मूल्य-बोध-जैसी भावनात्मक प्रक्रिया का सपूर्ण विश्लेपण विज्ञान के फारमूलो से करना चाहते हैं। मूल्य-बोध के कार्य मे विज्ञान की सहायता सीमित ही हो सकती है। अगर आधुनिक पडित यह मानते हो कि कविता, कला और धर्म की सारी बातें, आदि से अत तक, वैज्ञानिक होनी ही चाहिए, तो और कलाओ का हश्र चाहे जो भी हो, किन्तु, कविता नही बचेगी, धर्म नही बचेगा।

सभी युगो मे मनुष्य मूल्य और मान्यता के किसी-न-किसी सर्वसम्मत आधार मे विश्वास करता था। किन्तु, अब वह ऐसे किसी भी आधार मे विश्वास करने को तैयार नही है, जिसका समर्थन विज्ञान नही करता हो। यह चिंतन की उसी प्रक्रिया का परिणाम है, जिसने मनुष्य को यह बताया था कि चूँकि शरीर के चीर-फाड से आत्मा नामक तत्त्व का पता नही चलता, इसलिए उसका अस्तित्व ही नही है। इस पद्धति का अनुकरण करके यह भी कहा जा सकता है कि विटामिन कोई चीज नही है, क्योकि लहू और मास मे वह कहीं भी दिखायी नही देती।

किन्तु, उन मनीषियो के लिए यह कोई असभव बात नही है, जो कविता को सोद्देश्यता से हटाते-हटाते अब वहाँ पहुँच गये हैं, जहाँ दृष्टिबोध अथवा वेल्टअनशाऊग भी लेखको की हीनता का सूचक बन गया है। किसी अतिम आदर्श अथवा दृष्टिबोध के अभाव को हम निम्नतम कोटि की नास्तिकता समझते हैं। वह मनुष्य अभागा है, जिसने जीवन भर मे पूर्णता की कभी कोई झलक नही देखी, जिसने किसी भी नाटक, कविता या उपन्यास की रचना के क्रम मे कभी भी यह अनुभव नही किया कि मैं जिस चीज की तलाश मे था, उसकी एक झाँकी मुझे प्राप्त हो गयी है।

विज्ञान से जो माप्य है और विज्ञान मे जो मापा नहीं जा सकता, इन दोनों तत्त्वो के बीच थोडा-बहुत द्वन्द्व सभी कालो मे रहता आया था। किन्तु, पहले के कवि और कलाकार उन दोनों के बीच सतुलन खोजते थे, सामजस्य बिठाते थे। किन्तु नये कवि उन दोनों से पलायन कर रहे हैं। माप्य से पलायन वे इसलिए करते हैं कि वह ठोस, वास्तविक अथच कुरूप है। और अमाप्य से वे इसलिए भागते हैं कि विज्ञान उसका समर्थन नही करता। यह विज्ञान की विजय और कला की पराजय का दृश्य है। माप्य और अमाप्य के त्याग से जो स्थिति उत्पन्न होती है, उसमे लिखने को कोई विषय बही रह ही नही जाता है। अतएव, स्वभावत. ही, नये कवि माप्य और अमाप्य के बीचवाले भेद को नाटकीयता प्रदान करते हैं, शब्दों के द्वारा उसे अभिनेय बनाते हैं। यह अजर ही महीन काम है और जो लोग सफलतापूर्वक उसे सपन्न कर रहे हैं, उनकी बौद्धिक शक्ति की सराहना करनी ही पड़ेगी। लेकिन यह हवा पर चित्रकारी करने के समान निरर्थक कार्य है। मगर, धरती जिसकी छूट गयी वह हवा मे न उड़े, तो उसे अवलम्ब भी कहाँ मिलेगा?

दिनकरजी की प्रख्यात कृतियां

काव्य-ग्रन्थ

उर्वशी : भारतीय ज्ञानपीठ के एक लाख रुपये के पुरस्कार से सम्मानित	६-००
कुरुक्षेत्र	६-००
रश्मिरथि	५-००
नील कुसुम	५-००
सीपी और शंख	३-००
परशुराम की प्रतीक्षा	३-००
कोयला और कवित्व	३-००
मृत्ति-तिलक	२-००
दिनकर की सूक्तियां	३-००
आत्मा की आंखें	४-००
हारे को हरिनाम	८-००
दिनकर के गीत	५-००
रश्मिलोक	२०-००

गद्य-ग्रन्थ

दिनकर की डायरी	२०-००
विवाह की मुसीबतें	४-००
संस्कृति के चार अध्याय	३५-००
शुद्ध कविता की खोज	१०-००
काव्य की भूमिका	४-००
पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण	४-००
मिट्टी की ओर	४-००
अर्धनारीश्वर	५-००
साहित्यमुखी	६-००
संस्मरण और श्रद्धांजलियां	८-००
मेरी यात्राएं	७-००
हे राम !	४-००
लोकदेव नेहरू	५-००
उजली आग	५-००
चेतना की शिखा	६-००

हमारे द्वारा प्रकाशित एवं प्रचारित पुस्तकें

उपन्यास

उड़े हुए रग	सर्वेश्वरदयाल सक्सेना	५.५०
जिन्दाबाद मुर्दाबाद	दयानन्द वर्मा	६.००
अचला	सेठ गोविन्ददास	४.५०
थके पाव	भगवतीचरण वर्मा	४.००
बदनाम गली	कमलेश्वर	५.००
पाच लोफर	कृश्न चन्दर	४ ५०
अजनबी	गुलशन नन्दा	७ ५०
शर्मीली	,,	५ ००
भँवर	,,	६.५०
फरियाद	ताराशकर बन्द्योपाध्याय	४.५०
साझ और सवेरा	राजवश	५.५०
बन्धन	,,	४ ५०
अग्नि-परीक्षा	गुरुदत्त	१०.००
सगम	,,	८.००
पजाब की बेटी	जमनादास अख्तर	४.००
पहला वर्ष	यज्ञदत्त शर्मा	२.५०

कहानी-संग्रह

अन्तिम पत्ती	ओ० हेनरी	२ ००
विष कन्या	नथेनियल हॉथोर्न	२ ००

विविध

गाधी के देश से लेनिन के देश मे	शकरदयालसिंह	४.००
रूसी साहित्य का इतिहास	वीर राजेन्द्र ऋषि	२५.००
नग्मानुमा	फिराक गोरखपुरी	४.५०
हिन्दी के पाच लोकप्रिय कवि	सकलन	४.५०
भारत की पन्द्रह भाषाए	प्रभाकर माचवे	५.००
अपने आगन मे साग-सब्जिया कैसे उगाए?	सुशील जमनीदास	४.५०
आधुनिक भोजन कला	मृदुला गोस्वामी	४.५०

हिन्दी बुक सेन्टर
आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११०००१